

अनुक्रमणिका

आत्म-दर्शन की तीव्र तृषा	:	7
अन्तर्धन को पहिचानो !	:	18
आकाश के समान अनन्त इच्छाएँ	:	29
गुणमूलक जीवन का निर्माण	:	39
सुख दो, सुख पाओ !	:	51
सर्वर्गीण जीवन का विकास	:	66
संघ-शक्ति का महात्म्य	:	79
दीक्षा की स्वस्थ परम्पराएँ	:	92
मोह मदिरा रूप होता है	:	103
विज्ञान, वास्तविकता एवं कर्म-बंध	:	116
कर्म विपाक की प्रक्रिया का आधार	:	130
परिग्रह की मूर्च्छा : नरक की यातना	:	145
मानव-जीवन की सच्ची कला	:	159
भद्रता, मधुरता और सरलता	:	172
साधु-जीवन की सुदृढता	:	185
व्रत और शील की अमित महत्ता	:	200
योगों की वक्रता और सरलता	:	214
कर्म बाधक और साधक भी	:	228
आत्म-शुद्धि की जड़-दर्शन शुद्धि	:	240
विनय और विनय-सम्पन्नता	:	249

आत्म-दर्शन की तीव्र तृषा

*ʻrj1 u vk sgh ej. k t lbu r. kʃ
l lt st lsn 'kʃ dkt -----***

प्रभु के दर्शन की तीव्र तृषा में भगवान अभिनन्दन की प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण किया जा रहा है और आज अंतिम पंक्तियाँ हमारे सामने हैं कि—

*rj1 u vk sgh ej. k t lbu r. kʃ
l lt st lsn 'kʃ dkt A*

*nfj1 . kny k l g Hk & Ñi k Flclj
ʻvluh?ku* eglij kt AA*

इन पंक्तियों के अर्थ-विन्यास की दृष्टि से यह चिन्तन का विषय बन गया है कि प्रभु के दर्शन की हमारी तृषा शांत हुई अथवा नहीं। शांत होने की बात छोड़िए, दर्शन के समीप भी हम पहुँचे हैं या दर्शन की दिशा में भी प्रस्थान किया है अथवा अभी तक वहीं बैठे हैं, जहाँ प्रार्थना को प्रारम्भ करते समय थे। इस आत्मालोचना के बिना तो प्रार्थना करने का उद्देश्य ही सफल नहीं होगा।

यह आप समझ चुके हैं कि परमात्मा का दर्शन आत्मा के दर्शन के साथ है। जड़ पदार्थों के व्यामोह से हटकर जब अपने अन्तरतम में झाँकें, वहाँ फैले हुए अंधकार और मैल को समझें और उसके स्थान पर प्रकाश एवं निर्मलता का प्रसार कर सकें, तब आत्मा के मूल स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं। आत्मा जब अपने मूल स्वरूप में पहुँच जाती है, तभी वह परमात्म-स्वरूप का वरण कर लेती है। इस तरह जो आत्म-दर्शन है, वही प्रभु का दर्शन है।

Atmak vs Ikkak dk cy

आत्मा का दर्शन स्वयं की भावना और साधना पर निर्भर है। भावना सम्यक्ज्ञान एवं दर्शन के साथ दृढ़ निश्चय कराती है, तो साधना उस दृढ़ निश्चय को कार्य रूप देती है। भावना और साधना के संयुक्त बल का ऐसा उग्र प्रभाव होता है कि आत्म-दर्शन की तृषा शांत होने की ओर बढ़ जाती है। फिर मार्ग में चाहे जितने कठोर संकटों का सामना हो— आवरणों का चाहे जितना जटिल घनत्व हो, एक भावुक साधक उन सबको गिराता और छेदता हुआ अपने साध्य की ओर बढ़ जाता है। साधना यदि इस प्रकार भलीभाँति चले और आत्म-चेतना के समीप पहुँचती जाये, तो एक दिन अंतर के दैदीप्यमान आलोक में प्रभु के दर्शन सुलभ बन सकते हैं।

प्रार्थना की उपरोक्त पंक्तियों में कवि ने अपनी यही हार्दिक अभिलाषा व्यक्त की है कि मुझे दर्शन की इतनी तेज प्यास लगी है, जिस के आगे मुझे अपने जीवन-मरण का भी कोई भय नहीं है तथा उस तृषा को शान्त करने के लिए किसी भी कठिन साधना में सीझने की भी मेरी तैयारी है। क्या कवि की इस हार्दिक अभिलाषा में आप भी सम्मिलित होना चाहते हैं ? क्या पुद्गलों की जड़ता से मुँह मोड़कर आत्म-दर्शन के हित अपने जीवन तक को न्यौछावर कर डालने की आप भी तैयारी कर सकते हैं ? क्या भावना और साधना के संयुक्त बल का अर्जन आपको अभीष्ट है ? ये प्रश्न हैं, जो यदि

प्रार्थना करते समय आप के हृदय को नहीं झकझोरते, तो समझिए कि अभी सच्ची प्रार्थना करने की स्थिति में काफी कचावट बाकी है।

t bou fn; sfcuk t bou dgk |

जो अपने जीवन को एक पवित्र साध्य के लिए देना नहीं जानता, उसे एक जीवन्त जीवन का ओज और तेज प्राप्त भी नहीं हो सकता है। जीवन दिये बिना जीवन कहाँ ? त्याग और बलिदान के बिना सच्ची उपलब्धि कहाँ ? जो अपने जीवन को लोकोपकार में न्यौछावर कर सकता है, उसे कष्टों में निर्भय होकर डाल सकता है और विपत्तियों से फौलाद की तरह टकरा सकता है, वही अपने जीवन को कुन्दन की तरह निखार भी सकता है। जिसके अन्तर्मन में आत्मा और परमात्मा के दर्शनों की जिज्ञासा तीव्र हो जाये, उसके जीवन की ऐसी ही त्यागी अवस्था बन जाती है और वह सारे विकृत साधनों को छोड़कर अपना सर्वस्व उसी लक्ष्य की पूर्ति में लगा देता है।

यहाँ जीवन देने का अर्थ जीवन का भोग देना है। भोग देना है यानि त्याग लेना है— अपने निजत्व को व्यापक दायरे में विस्तारित कर देना है। एक छोटे और संकुचित जीवन को जब त्याग की ओर मोड़ा जाता है, तब कठिन परीक्षाओं में सफलतापूर्वक गुजरकर वही जीवन महान और विशाल बन जाता है। समाज के उत्थान में जब व्यक्ति अपना जीवन देता है, तो वह अपने बन्धनों को काटता है और जितना उसका जीवन मोह के बन्धनों से मुक्त होता जाता है, उतना ही उसे नया जीवन मिलता जाता है। यह नया जीवन अपने जीवन को देने का ही शुभ प्रतिफल होता है।

ifjR lx dS s vlg fdruk |

जीवन में परित्याग कैसा और कितना करना होगा— इसे भी समझ लेना चाहिए। यह परित्याग जितना उच्चतर बनता जायेगा,

जीवन की विशालता और महानता भी उतनी ही श्रेष्ठतर होती जायेगी।

दार्शनिक दृष्टि से संसार का मूल ममत्व होता है। यह ममत्व मनुष्य के मन को पौद्गलिक सुखों से जोड़ता है और उन्हें अपना मानकर उनकी प्राप्ति में उसे हर्षित बनाता है। उनके नहीं मिलने या छूट जाने पर यह खेद में डुबोता है। जितना अधिक ऐसा ममत्व होता है, उतना ही जीवन संकुचित, छोटा और स्वार्थी बनता है। इस कारण इस ममत्व का जितना परित्याग किया जाता है, उतना ही जीवन में परमार्थ आता है और उतना ही जीवन जड़त्व से दूर हटकर चैतन्य के प्रकाश की ओर बढ़ता है। ममत्व का परित्याग ही इस जीवन की महानता का द्योतक बनता है।

अब सोचिए कि यह ममत्व कहाँ-कहाँ है ? धन, वैभव, सत्ता और सम्पत्ति में आपका ममत्व है या नहीं ? परिवार के ममत्व में आप कहाँ-कहाँ किस रूप में फंसे हुए हैं ? और सब से ऊपर आपका अपने शरीर के प्रति कितना गहरा ममत्व है ? यह भी सोचिए कि ममत्व के ये सारे आंकड़े जीवन में कितनी गहराई तक घुसे हुए हैं ? इस सारी परिस्थिति का सही ज्ञान करने के बाद ही “परित्याग कैसा और कितना” – इसका निर्णय निकाला जा सकेगा। जितना ममत्व गहरा, उतना ही परित्याग कठोर होगा। जितना परित्याग कठोर होगा, उतनी ही साधना कठिन बनानी पड़ेगी।

ekuo t'hou vls' l'kluk ds l'ki'ku

जैसे प्यासे को जल की धुन लगी रहती है, उसी प्रकार दर्शन की तीव्र तृषा को लेकर जो चलता है, उसे उस हेतु साधना की एकाग्र लगन लग जाती है। वह परिग्रह, परिवार तो छोड़िए, स्वयं के शरीर का मोह भी त्याग देता है। किसी भी मूल्य पर वह अपनी दर्शन की तृषा को शान्त करना चाहता है। यह एक ही विषय उसके मन और मस्तिष्क को झकझोरता रहता है कि मुझे कब और कितनी जल्दी आत्मा के दर्शन सुलभ हों।

मानव जीवन की उपलब्धि इस पवित्र तृषा को शान्त करने के सबल साधन के रूप में ली जानी चाहिए। इस समृद्ध जीवन में भी यदि दर्शन की तृषा शान्त नहीं की जा सकती, तो समझ लीजिए कि वह कब शांत हो सकेगी— उसका फिर कोई ठौर ठिकाना नहीं। अन्य योनि में तो न परमात्मा के दर्शन का ठिकाना है, न आत्मा के साक्षात्कार का। यह मानव का चोला है, जिसमें रहते हुए अगर आत्मा ने पुरुषार्थ कर लिया और साधना के सोपानों पर वह चढ़ गयी, तो वह पूर्णता प्राप्त कर लेगी। जितनी इस जीवन के साथ साधन—शक्ति है, उस स्थिति से इन्सान को यदि अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ने की प्रेरणा मिले, तो अपनी सारी प्रतिकूल परिस्थितियों पर भी विजय प्राप्त करता हुआ वह दर्शन—लाभ के लक्ष्य तक अवश्य ही पहुँच जायेगा।

1 eHhoh 1 K&t lbu

ममत्व का जितना परित्याग किया जायेगा, उतनी ही समत्व की स्थिति उत्पन्न होगी। मेरा नहीं, सो सबका है और सबका है, तो समान रूप से सबका है— यही समत्व की बुनियाद है। ममत्व से मनुष्य सुखों को सिर्फ अपने और अपनों के लिए बटोरना चाहता है, तो समत्व में उन्हें वह सबके लिए बिखेर देना चाहता है। यह तो समत्व की निचली श्रेणी की बात है, मगर इसकी ऊपरी श्रेणियों में मनुष्य ऊपर चढ़ता है, तो वह अपना सब कुछ दे डालता है और अपने लिए कुछ भी नहीं रखना चाहता। वह देता ही जाता है, सब कुछ देता जाता है। ऐसे सर्वस्व त्यागी के जीवन को ही साधु—जीवन कहा जाता है, जिसका त्यागमय भावना से घनिष्ठ संबन्ध हो जाता है।

ऐसा साधुत्व जिस साधक के अंतरतम में समा जाता है, वह अवश्य आत्म—दर्शन की दिशा में आगे बढ़ जाता है, क्योंकि वैसे जीवन में समभाव की श्रेष्ठता प्राप्त होती है। यही समभाव सांसारिक जीवन में समता का प्रसार करता हुआ आत्मा को परमात्मा के साथ

समभाव की स्थिति में ले जाता है। साधु-जीवन बताता है कि साधु के अन्दर रहनेवाली आत्मा अपने स्वरूप का और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहती है। इसी चाह के लिए साधु-जीवन धारण किया और समभाव की साधना के साथ गति की, लेकिन कदाचित् उस समभाव की स्थिति में चलते और दर्शन के समीप पहुँचते हुए आन्तरिक जीवन के विकारों का विघ्न उपस्थित हो जाये, तो उस समय वह साधक क्या करे ?

*^vk lo; kg p; l hxeYya**

इसके लिए शास्त्रीय संकेत है कि हे साधक! यदि तुम प्रभु के दर्शन-सुख का लाभ लेना चाहते हो, तो तुम्हारे मन में से उन सब विकारी भावनाओं को निकाल दो, जो बार-बार प्रयास करने पर भी मन से नहीं निकलती हैं। मन के विकार अगर दर्शन में बाधक बनते हैं, तो उनसे मन को एकाग्र बनाने के लिए 'सोगमल्लपने' का त्याग करें। जितना इन्सान 'सोगमल्लपने' में रहता है, उतने ही मानसिक विकार प्रबल बनते हैं और इसका त्याग करने पर विकारों का दमन होता है।

कहा गया है कि यदि तुम सोगमल्लपने का त्याग करके 'आतापना' (अर्थात् सूर्य की उष्ण किरणों से शरीर को तपाते हुए मन को पवित्र बनाने का प्रयास करना) लेते हो, तो उससे शरीर-मोह घटकर मन के विकार सूखते जायेंगे। कदाचित् आतपना लेने से काम नहीं बने और विकारों का विघ्न उपस्थित हो जाये, तो शास्त्रकारों का कथन है कि साधु तब वहाँ से विहार कर जाये। भगवान महावीर ने साधु के लिए कम से कम 9 कल्पी विहार बताये हैं— 8 महीनों का तो 1-1 विहार तथा 9वाँ चातुर्मास का विहार। यह अल्पतम संख्या है कि चातुर्मास के चार माह के सिवाय साधु कहीं भी 29 रात्रि से अधिक नहीं ठहरे। विहार करते रहने से जीवन में अधिक पवित्रता आती है, क्योंकि जिन कष्टों को झेलते हुए विहार करना

पड़ता है, उनसे शरीर का मोह घटता जाता है। जितना मोह घटता है, उतनी ही आत्मदर्शन की तृषा तीव्रता से साधना—पथ पर अग्रसर होते रहने की उग्र प्रेरणा देती रहती है। बहता जल जिस तरह निर्मल रहता है, उसी तरह विचरता हुआ साधु भी पवित्र बना रहता है।

1 kqrksjerk Hyl

साधु एक स्थान पर अधिक ठहरता है, तो चाहे काम की वासना हो या दूसरी विकृति— उसके पनपने की आशंका रहती है। इस आशंका के साथ ही दर्शन की तृषा के भी दुर्बल पड़ जाने की आशंका पैदा हो जाती है। इस कारण भगवान महावीर ने निर्देश दिया कि जहाँ तक साधु की शक्ति है, विहार करते रहो। अगर लकड़ी के सहारे भी चल सकता हो, तब भी वह एक जगह नहीं ठहरे। पूरी अशक्त अवस्था में ही वह स्थविर हो सकता है। विहार करते रहने पर नया—नया वायुमंडल मिलता है, नया—नया साधना क्षेत्र दिखायी देता है तथा नये—नये पुरुषार्थ से मानसिक विकारों की समाप्ति की जा सकती है। साधु के संसार छोड़ने का अभिप्राय यही है कि उसने ममत्व से मुख मोड़ा है, धन, परिवार आदि का मोह छोड़कर शरीर—मोह से छुटकारा पाना चाहा है। वैसी स्थिति में विहार साधु की संयम—निर्मलता को अक्षुण्ण बनाये रखता है।

“साधु तो रमता भला” इसीलिए कहावत बनी है। राजकीय व्यवस्था में भी आप देखते हैं कि कर्मचारियों के तबादले किये जाते हैं, वे इसी कारण कि किसी एक स्थान पर किसी के स्वार्थ निहित न बन जायें। एक जगह बंधकर पड़ा रहनेवाला पानी ही गंदला होता है। धर्म और नैतिकता की रक्षा के लिए पानी को गंदला होने के लिए नहीं बाँधना चाहिए, बल्कि उसे प्रवाहित होते रहने देना चाहिए। साधु सब ओर रमते—रमते ही आत्मा में रमने लगता है और ममत्व से मुक्त होकर आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

वर्णन 'कृपा-अकृपा' की श्रेणी

कवि आनन्दघन जी ने प्रार्थना में कहा है कि भगवान की कृपा दृष्टि हुई, तो मुझे दर्शन हो जायेंगे। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वहीं दर्शन हैं, जहाँ प्रभु की कृपा-दृष्टि है और कृपा-दृष्टि नहीं है, तो क्या दर्शन नहीं है ? क्या प्रभु की आत्मा के ऊपर अकृपा है या क्या वे कृपालु नहीं हैं ? अथवा क्या वे उसी पर कृपा करते हैं, जो उनकी भक्ति करता है और अन्य पर नहीं ? अगर इस प्रकार की वृत्ति प्रभु में मान ली जाये, तो क्या उनका स्वरूप शुद्ध माना जायेगा अथवा अशुद्ध ?

यदि भगवान कृपा-अकृपा के प्रपंच में पड़ते हैं, तो शायद वे भगवान ही नहीं रहेंगे। फिर तो उनकी तुलना उस अधिकारी से की जा सकती है, जो रिश्वत के जरिये कृपा या अकृपा करता है। अतः प्रभु-कृपा के कथन का सही आशय यह है कि हम अपनी आन्तरिक कृपा को बनायें। अन्तर के चेतन प्रभु की कृपा हुई, तो आत्म-दर्शन अवश्य हो जायेंगे।

एक दृष्टि से भगवान दो तरीके के हैं। एक तो शुद्ध परमात्मा, जो अष्ट-कर्म से रहित शुद्ध अवस्था में आनन्दपूर्वक निर्वाण स्थिति में विराजमान हैं। वे तटस्थ दृष्टा होते हैं- संसार के किसी भी पदार्थ से उनका लाग-लगाव नहीं होता। दूसरे भगवान वे, जो अपने ही अन्तर में बैठे हुए हैं- प्रत्येक के अन्तर में बैठे हुए हैं। ये भगवान कर्मलिप्त होने के कारण अभी तेजवान न दिखायी देते हों, किन्तु ज्योंही कर्मों का आवरण हटता है, इनका तेज प्रकट होते-होते उसी अन्तिम बिन्दु तक पहुँच जाता है, जो स्वयं प्रभु का तेज होता है। अतः जागरण-अवस्था में अपने ही आत्मप्रभु की जितनी अधिक कृपा होगी, उतने ही शीघ्र उसके दर्शन सुलभ हो सकेंगे- इसमें कोई संदेह नहीं है।

i Hq Nīk rks l w&fdj. k&l h gkrh gS

सूर्य का प्रकाश आपके सामने व्यापक रूप से आ रहा है और यह सभी के पास समान रूप से पहुँच रहा है। क्या प्रकाश—दान में उसकी कोई भेद—भरी स्थिति है ? सूर्य अपनी गति से आकाश में समभाव से चलता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष उस फ़ैले हुए प्रकाश से अपना मार्ग ढूँढ़ लेते हैं। इस के विपरीत जो अज्ञानी, मोहग्रस्त और सुषुप्त बने रहते हैं, वे उल्लू की तरह उस फ़ैले हुए प्रकाश को भी ग्रहण नहीं कर पाते हैं। जैसे प्रकाश को प्राप्त करने में सूर्य की कृपा या अकृपा का कोई अर्थ नहीं है, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप को समझकर उससे प्रेरणा पाने में भी प्रभु की कृपा या अकृपा का प्रश्न नहीं उठता।

प्रभु—कृपा का यही अर्थ लिया जा सकता है कि उन्होंने जिस आदर्श साधना से स्वयं को कर्मावरण से मुक्त किया, उस आदर्श—साधना से कोई भी प्रेरणा ले सकता है, बशते उसके भीतर के नेत्र खुले हुए हों। अतः प्रभु कृपा की इस दृष्टि से सूर्यकिरण के साथ तुलना की जा सकती है, जो सभी के लिए उन्मुक्त होती है।

t M. ?Wxh pruk mBxk ri l s

जितना जड़ का पोषण है, समझिए कि चेतन उतना ही संज्ञाहीन है। जड़ का ममत्व घटाया जायेगा, तभी चेतन उठ सकेगा। जड़ का ममत्व घटेगा— जड़ का त्याग करने से— जड़ की उपेक्षा करने से। धन, वैभव, परिवार छोड़ दें और साधु बन जायें— फिर भी शरीर के मोह से मुक्त होना आसान नहीं होता। शरीर का मोह छूटेगा शरीर की उपेक्षा से और आत्मा में अनुरक्ति से, जिस का प्रमुख साधन माना गया है— तप, जो आन्तरिक और बाह्य भेदों में 12 प्रकार का होता है। आपकी अभी तपश्चर्या में जो होड़ मची हुई है कि एक बहिन ने 42 दिनों का पारणा किया है, दूसरी के 48 दिन चल रहे हैं और मासखमण वगैरह मिलाकर आप कहते हैं कि इतनी तपश्चर्या

पहले जयपुर में कभी नहीं हुई, किन्तु इस सम्बन्ध में मेरा कहना है कि तप के साथ-साथ ममत्व की भावना को भी जरूर छोड़ते जायें।

वास्तव में तपश्चर्या मानसिक धरातल पर होनी चाहिए। मानस में यदि तृष्णा विचर रही है और ऊपर से तप कर भी लिया, फिर भी वह आत्मिक-दर्शन की अभिलाषा को पूर्ण करनेवाला बन नहीं सकेगा। असल में जड़ के प्रति मोह-भाव घटेगा, तभी तप सार्थक बनकर चेतन को चेतनामय बना सकेगा। जड़त्व के मोह में यश-कीर्ति की लालसा भी शामिल है, अतः यश-कीर्ति की लालसा के साथ तपाराधन किया जाये, तो वह भी उतना सार्थक नहीं होगा। तप का सच्चा अर्थ है- विकारों का विनाश, क्योंकि विकारों के विनाश के बिना निर्मलता का संचार कैसे हो सकता है ? तप से आतापना के साथ-साथ आत्मा में निर्मल स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है।

ri vls e; kzk dk i tto

तप से आतापना के साथ संयमी जीवन के लिए आवश्यक मर्यादाओं का निर्देश दिया गया है। संयमी जीवन को उद्दाम वासनाओं के बाँध की मर्यादापूर्ण पाल के रूप में देखा गया है। यदि पाल में एक जर्रे जितना भी सुराख हो जाता है, तो आशंका बन जाती है कि बाँध के पानी का जोर कभी भी पाल को तोड़ सकेगा। इसी कारण पाल की सुरक्षा का बहुत ज्यादा ध्यान रखा जाता है। वासनाओं के अंधड़ अच्छों-अच्छों को डिगा देते हैं। अतः अविचल रहने के लिए संयमी जीवन की एक-एक मर्यादा की रक्षा अनिवार्य मानी गयी है।

साधु-जीवन भी अपनी मर्यादा में कायर रहता हुआ सुदृढ़ बना रहता है। साधु-जीवन की दृष्टि से पाँच महाव्रत अंगीकार किये जाते हैं- फिर विद्युत का उपयोग साधु कैसे कर सकता है ? व्याख्यानो के लिए विद्युत यंत्रों के प्रयोग की बात कही जाती है, जो उपयुक्त नहीं है, क्योंकि टेप-रिकॉर्ड करके कोई उस व्याख्यान को शुद्ध या अशुद्ध किसी भी स्थान पर, किसी भी मनोदशा में सुनेगा, तो

उस वाणी से जो मानवीय संस्पर्श होता है— उसकी क्या तुलना ? भगवान महावीर की मर्यादाओं की पाल को इस तरह तोड़ा जाता रहेगा, तो क्या उस बांध को काबू में रखा जा सकेगा ?

इस कारण तप और मर्यादाओं के प्रभाव को उसके सही अर्थों में समझने की आवश्यकता है। संयम स्वयं मर्यादा का ही तो नाम है। संयम की सुगन्ध चारों ओर तभी फैल सकती है, जब मर्यादाओं की पूर्ण सुरक्षा हो और विकारनाश की भावना के साथ तप का आराधन किया जाये।

मर्यादाओं की रक्षा से संयम की रक्षा होती है और मर्यादाएँ टूटती हैं, तो संयम की जगह वासना की फुत्कार पैदा हो जाती है।

वक्रं न'रि वक्रं । उरुं एतद् ।

जैसे राजनीति में नेता अगर बराबर जन-सम्पर्क न रख सके, तो वह अपना अस्तित्व भी बनाये रखने में असफल हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-दर्शन की तीव्र तृषावाले एक साधक के लिए निरन्तर सन्त-सम्पर्क एक अनिवार्य आवश्यकता है। सन्तों के सम्पर्क से वासनाओं का दमन करने एवं ममत्व का परित्याग करने में एक ओर कर्मठ साहस जुटता है, तो दूसरी ओर आत्म-स्वरूप को निखारनेवाली साधना की उमंग भी प्रगाढ़ बनती है।

सोचिए कि आत्म-दर्शन की तृषा आपको लगी है या नहीं और यदि लगी है, तो उसे शान्त करने के लिए आप अपने जीवन को कैसा मोड़ देना चाहते हैं ?



अन्तर्धन को पहिचानो !

*“M efr pj. ljt vkre viZk niZk t.e vfodlj-----***

यह सुमतिनाथ भगवान की प्रार्थना प्रारम्भ की गयी है। प्रार्थना अभिनन्दन देव की हो या सुमतिनाथ जी की— भगवद् स्वरूप एक—सा ही होता है। कवि ने इसकी उपमा स्वच्छ दर्पण से दी है। दर्पण जितना स्वच्छ और निर्मल होता है, अनेकों का प्रतिबिम्ब उसमें दिखायी देता है। कोई भी स्वयं की आकृति को दर्पण के माध्यम से ही देख सकता है। ऐसा करने पर ही वह जानता है कि उसका रूप—स्वरूप कैसा है ? इससे वह केवल यही नहीं जानता कि उसका स्वयं का रूप—स्वरूप कैसा है, बल्कि अन्य आकृतियों के साथ तुलना करके अपने रूप—स्वरूप का मूल्यांकन भी वह कर सकता है।

परमात्म—स्वरूप की उपमा जो दर्पण से दी गयी है, उसे इसी संदर्भ में समझना चाहिए। उस निर्मल स्वरूप में जब हम अपनी लौ लगाते हैं, तो उसमें हमारे वर्तमान स्वरूप की तुलनात्मक स्थिति सामने आती है और विदित होता है कि उस निर्मल स्वरूप की तुलना में हमारा स्वरूप कितना मलयुक्त है ? यह तुलनात्मक ज्ञान हमें अपने

स्वरूप को भी निर्मलता की ओर अग्रसर बनाने की प्रेरणा देता है।

इस अवस्था में यह विवेक भी जागृत होता है कि यद्यपि सभी आत्माएँ दर्पण के समान हैं, किन्तु एक परमात्मा है, जो स्वच्छ दर्पण के समान है, जिससे सामने आनेवाली प्रत्येक आकृति पूर्ण व स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो जाती है। दूसरी ओर अपनी आत्मा भी दर्पण के समान है, मगर उस दर्पण पर इतना मैला जमा हुआ है कि न तो वह स्वयं स्वच्छ है, न उसके सामने आनेवाला ही उसमें प्रतिबिम्बित होता है। यह जो दोनों दर्पणों का अंतर दिखायी देता है, वही इस आत्मा को अपना कर्म—मैल धो डालने की सन्मति देता है।

1 øfr ds ni Zk rø; pj. k

दर्पण यद्यपि जड़ होता है तथा भगवान के चरण चेतना के पुंज हैं, किन्तु प्रतीकात्मक दृष्टि से दर्पण में भी दो प्रधान गुण होते हैं और वे ही गुण सुमतिनाथ के चरणों में भी हैं। ये दोनों गुण प्रतिबिम्बित होने के संबंध में हैं। पहला तो यह कि प्रतिबिम्ब बिल्कुल स्वच्छ दिखायी देता है। जैसी आकृति है, वह वैसी की वैसी उसमें दिखायी देती है। यह नहीं कि आकृति साफ हो और उसमें धुंधली दिखायी दे अथवा आकृति धुंधली हो और उसमें वैसी नहीं दिखायी दे।

दूसरा गुण यह होता है कि दर्पण जो प्रतिबिम्ब दिखाता है, वह निर्लिप्त भाव से दिखाता है। दर्पण की कोई लाग—लपेट नहीं कि गोरे को काला दिखा दे अथवा काले को गोरा दिखा दे। जो भी उसके सामने आया, उसको वह वैसे ही रूप में प्रतिबिम्बित कर देता है और उससे किसी भी तरह वह प्रभावित भी नहीं होता है। दर्पण के सामने मैले की टोकरी है, तो वह उसे दिखा देगा, किन्तु उससे वह खुद मैला नहीं होता। यदि सामने आग की ज्वालाएँ हैं, तो ऐसा दिखायी देगा, जैसे ज्वालाएँ दर्पण में ही जल रही हों, किन्तु दर्पण को छुएंगे, तो वह यथावत् शीतल मिलेगा।

प्रतिबिम्ब में स्वच्छता एवं निर्लिप्तता के दर्पण के गुण प्रभु के चरण में भी विद्यमान हैं। प्रभु के चरण भी स्वच्छ हैं— विकार—रहित होकर निर्मल हैं और जो उनसे प्रेरणा लेता है, वह भी अपने मन को राग—द्वेष व विषय—कषाय के विकारों से मुक्त बनाना चाहता है। प्रभु के चरण में भी निर्विकारी और विकारी दोनों स्थितियों का प्रतिबिम्ब गिरता है, जो इतना निर्लिप्त होता है कि उससे अपनी काली आकृति निहारकर विकारी पुरुष भले ही सत्प्रेरणा ग्रहण करे अथवा नहीं, वे चरण उससे प्रभावित नहीं होते।

इस प्रकार सुमतिनाथ भगवान के चरणों को जो दर्पण के तुल्य कवि ने बताया है, उसका मार्मिक अर्थ यही है कि प्रभु तो संसार को देखते हुए भी उससे तटस्थ हैं, किन्तु हम उनके विमल स्वरूप को देखने की अपनी दृष्टि में दिव्यता उत्पन्न करके उस स्वरूप से प्रेरणा एवं अनुकरण की उमंग अपने भीतर भी पैदा कर सकते हैं।

pj. ~~ka~~ D; k viZk dja |

जब किन्हीं महद् चरणों में पहुँचें, तो वहाँ कुछ न कुछ तो भेंट चढ़ानी ही चाहिए। विचार की बात यह है कि प्रभु के चरणों में भेंट कौनसी चढ़ायी जाये ? यदि कोई यह सोचे कि मेरे पास जितनी सम्पत्ति है, उसे प्रभु के चरणों में भेंट चढ़ा दूँ, तो सुमतिनाथ भगवान उस भेंट को ग्रहण करेंगे ? संसार में जितने भी पदार्थ दृष्टि में आ रहे हैं, उन सब पदार्थों को भी यदि आप प्रभु के चरणों में चढ़ाना चाहें, तो वे सब पदार्थ प्रभु की अर्पणा के योग्य नहीं हैं।

यदि किसी को आप कुछ अर्पण करना चाहें, तो उसके योग्य भेंट होगी, वही चढ़ायी जा सकेगी। किसी की योग्यता के प्रतिकूल पदार्थ भेंट में दें, तो वह देनेवाले की अयोग्यता ही जाहिर करेगी। प्रभु के निर्मल चरणों में अगर संसार के विकारी पदार्थ रखे जायें, तो वह एक अयोग्य कार्य होगा। कारण कि, वे निर्मल चरण इस संसार

की तमाम पौद्गलिक वस्तुओं से परे हैं। प्रभु के चरणों में यदि अर्पणा करनी है, तो उनके समान उनकी जाति के तत्व को ही अर्पित किया जा सकता है। वही उनके लिए योग्य अर्पणा होगी। अब उनकी जाति के तत्व कौन-से हैं— इसका संकेत कवि ने उपरोक्त प्रार्थना की पंक्तियों में दिया है, जो इस प्रकार है—

*lefr pj.k&jt vkre viZk
niZk t.e vfodljAA I KkuhAA
efr riZk cgq I Eer t k.k. j
ifjliZk I foplj AA I Kkuh AA*

भगवान के चरणों में यदि कोई अर्पण—योग्य तत्व है, तो वह स्वयं की आत्मा है और वह भी अर्पित तब होगी, जब प्रभु के स्वरूप के समान ही इस आत्मा का स्वरूप भी निखरकर पूर्ण स्वच्छ एवं निर्मल बन जायेगा।

ds h vkrek dk viZk I

प्रभु के जैसे स्वच्छ चरण हैं, वैसी ही स्वच्छ स्वरूपी आत्मा अर्पण योग्य मानी जानी चाहिए। यदि मैल या आवरण के साथ आत्मा को अर्पण करना चाहें, तो पहली बात तो यह कि वैसी आत्मा को प्रभु के चरणों में अर्पित होने की अभिलाषा ही नहीं होगी, तो दूसरे, वैसी मलिन—स्वरूपी आत्मा की अर्पणा प्रभु के चरणों के योग्य नहीं होगी। अर्पण करने से पूर्व आत्मा का अपना निखालिस स्वरूप बनाना चाहिए।

एक बात और है। जिस साँचे में जिस आकार—प्रकार का यन्त्र फिट करना हो और उसकी जगह बेमाप—तोल का यन्त्र हो, तो क्या वह फिट हो सकेगा ? जहाँ पाटिया कहीं लगाना हो, उसके लिए लकड़ी का पूरा टूट ही कोई ले आये, तो क्या उस टूट को

लगाया जा सकेगा ? टूट अनघड़ चीज होती है, तो पाटिया घड़ा हुआ। इसी प्रकार अनघड़ आत्मा अर्पण योग्य नहीं होती है। उसे उस योग्य बनाने के लिए पहले घड़ना होगा।

वर्तमान आत्मा की जो पर्याय है, वह पूर्ण शुद्ध नहीं है। विकारों से लिप्त अधिकतर मानवी प्रवृत्तियाँ टूट की तरह अनघड़ दिखायी देंगी। अनघड़ भेंट कोई सौम्य पुरुष किसी अन्य सौम्य पुरुष को प्रस्तुत नहीं कर सकता है। प्रभु तो परम सौम्य हैं ही, किन्तु यदि हमारी भेंट सुघड़ नहीं होगी, तो वह भेंट तो अनुपयुक्त होगी ही, मगर हम भी सौम्य नहीं कहला सकेंगे। अतः यह सुनिश्चित है कि विकार एवं कर्म-रहित बनाकर ही आत्मा को उसकी सुघड़ स्थिति में प्रभु के चरणों में अर्पित कर सकेंगे। तब जो भगीरथ कार्य हमारे सामने आता है, वह यह कि आज की मलिन आत्मा को निर्मल कैसे बनायें— सारे आवरणों को कैसे हटायें ?

nhī d r̥ys vāṅk gS; k ughā |

कहावत है कि दीपक तले अंधेरा होता है। सब ओर वह रोशनी फैलाता है, मगर उसके खुद के नीचे हकीकत में अंधेरा रहता है। वर्तमान जीवन को देखा जाये—चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा समाजगत—तो अनुभव होता है कि ज्ञान—विज्ञान में काफी उन्नति होने पर भी जीवन की वास्तविकता के स्थान पर तो अधिकांशतः अंधकार ही दिखायी देता है।

आपसे यह पूछा जाये कि आप क्या—क्या जानते हैं, तो कई भाई बता देंगे कि हम जयपुर का ही नहीं कलकत्ता, बम्बई और यहाँ तक कि लन्दन, न्यूयार्क आदि का विवरण भी जानते हैं। कई लोग विदेश—यात्रा किये हुए भी यहाँ होंगे। मैं आपसे पूछता हूँ कि दूर—दूर की बातें तो आप जानते हैं, मगर क्या आप अपनी ही चीज को जान रहे हैं या नहीं ? और उसे अपनी चीज क्या कहूँ— वह तो आप स्वयं हो। यदि स्व को नहीं जाना और पर को कितना भी जान लिया, तो उस ज्ञान को वास्तविक कैसे माना जाये ?

आज सबसे विकट समस्या यही है कि अपने को भूलकर बाहर की बातों को जान रहे हैं, अपने अन्तर्धन से बेभान बनकर बाहर के धन को किसी भी तरह पाने के लिए बेतहाशा दौड़-धूप कर रहे हैं। देखिए, दीपक तले अंधेरा है या नहीं ?

vtr/kz dks ifgpkfu, !

आज के लोग आत्म-स्वरूप को क्या समझ रहे हैं ? वे समझते हैं, यह जो शरीर मिला है, इससे जितने पर-पदार्थों का सेवन हो सकता है, उतना कर लेना चाहिए और इसे ही सुख का मापदंड माना जा रहा है। जितने सुन्दर से सुन्दर रूप देखे जा सकें— आँखों का सुख इसे कहा जाता है। बढ़िया से बढ़िया पदार्थ चखें जाये— यह जिह्वा-सुख है, तो सुगंधित पदार्थों को सूँघने में नासिका की सार्थकता कही जाती है। इसी तरह श्रवण, स्पर्श आदि अन्य सुखों की कल्पना है। किन्तु विचारणीय यह है कि क्या ये सुख वास्तविक हैं और अन्तरात्मा को जगानेवाले हैं ? यह मन, जो इस तरह बाहर ही बाहर दौड़ता है, क्या अपने अन्तर्धन को पहिचानता है ?

आत्मा आज अपने अन्तर्धन को तो कूड़ा-कचरा समझकर बाहर फेंक रही है और बाहर के कूड़े-कचरे को समेटकर अपने को धनी मानना चाह रही है। कैसी विडम्बना है यह ? अपने अन्दर की ऊर्जा शक्ति का वह दुरुपयोग कर रही है, क्योंकि उसका सच्चा उपयोग तो अपनी आन्तरिकता को जगाने में रहा हुआ है। मानव-जीवन की शक्ति ऐसी है कि उसके पास अच्छे पॉवर की बैटरी है, जिससे वह अगर अपने अन्दर प्रकाश करले, तो बाहर का समस्त वस्तु-जगत तो स्वयंमेव प्रकाशमान हो जाता है। लेकिन वह उसे बैटरी का सदुपयोग नहीं करता और कृत्रिम प्रकाश को वास्तविक मानकर असल में अंधेरे में ही भटकता फिरता है। अपने ही अन्तर्धन को पहिचाने बिना जो मनुष्य अंधे की तरह चलता है, उसे क्या कहें ?

D; k og cø dk l gh iz l x gS |

ऐसे व्यक्ति को किस स्वभाव का मानें ? उसे बुद्धिहीन कहें या निद्रायुक्त बतायें ? शक्ति-रूपी बैटरी का प्रयोग बाहर और अनुपयुक्त जगह पर तो करें, किन्तु घर में कतई नहीं करें, तो उसे बुद्धि का सही प्रयोग कैसे कहेंगे ? अन्तर के स्वरूप को समझने का अर्थ अपने आपको समझना है— उसे जानना है, जिसे आप “मैं” कहते हैं। सुहास्ते एक विचारक हो गया है। वह एक बार चिन्तन में बैठकर कुछ खोजने लगा। उसे अपनी समस्या का निदान नहीं मिल रहा था। रात को नींद भी नहीं आयी, तो वह उठकर एक बाग में चला गया और चहलकदमी करते हुए फिर सोचने लगा। उस समय बाग के माली की नींद में खटका हुआ और उसने उठकर आवाज लगायी—कौन हैं ? विचारक कुछ चौंका, फिर सोचने लगा कि मैं स्वयं अपने से पूछ रहा हूँ कि मैं कौन हूँ— अब इसको क्या उत्तर दूँ ? उसने रुकती-रुकती आवाज में उत्तर दिया कि भाई! मैं अपने ही से पूछ रहा हूँ कि मैं कौन हूँ ? माली ने स्वर पूरा नहीं पहिचाना और उसे पागल समझकर सो गया।

यह तो एक रूपक है, किन्तु पागलपने की भी एक व्याख्या है। जो ऐसा चिन्तक हो, जो अपने आपको ढूँढ़ रहा हो और जिसे बाहर की सारी चीजें व्यर्थ मालूम पड़ती हों— उसे आप दुनिया की बोली में पागल कहते हैं, किन्तु शायद आप नहीं जानते कि जिसने अपने आपको ढूँढ़ लिया हो— आत्म-स्वरूप को पहिचान लिया हो, वह दुनिया के लोभी इन्सानों को क्या समझता है ? वह हकीकत में आपके पागलपने को देखता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप अपनी बुद्धि का सही प्रयोग करें और देखें कि पागलपन हकीकत में किधर है ?

जीवन में चिन्तन की आदत डालिए और इन तत्वों की गहराई में उतरने की चेष्टा कीजिए। जितना आप अन्दर उतरेंगे,

आपको नया-नया प्रकाश दिखायी देगा। पग-पग पर नये-नये आनन्द की अनुभूति होगी। बुद्धि का यही सही प्रयोग होगा।

euq; dh ml ftk/kjh dh l h voLfk

आज आप जिस स्थिति में दौड़ रहे हैं— दूर-दूर तक दौड़ रहे हैं और अपने जीवन को स्वयं के अन्दर नहीं खोज पा रहे हैं, तो आपकी स्थिति उस भिखारी की तरह की हो जाती है, जो एक बाजार में नित्य-प्रति एक ही स्थान पर बैठकर भीख माँगा करता था और प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक-एक पैसे के लिए हाथ पसारा करता था। वह चिल्लाकर एक-एक पैसे के लिए पुकार लगाता और हाय-हाय करते हुए दिन गुजारता। इसी दुःखी दशा में एक दिन वह मर गया। मोहल्ले के लोगों ने दया करके उसकी अन्तिम क्रिया की और वापिस आकर सोचा कि अब तो भिखारी चला गया है, सो उसके बैठने के स्थान को भी साफ करके रास्ते को एक-सा बना दें। वहाँ खोदते हुए उन्हें एक घड़ा मिला, जिसमें मोहरें भरी हुई थीं। यह देखते ही सब कहने लगे कि बेचारा भिखारी एक-एक पैसे के लिए जिन्दगी-भर हाथ पसारा रहा, किन्तु उसे मालूम नहीं हुआ कि उसकी बैठक के नीचे ही स्वर्ण-मुद्राएँ भरी पड़ी हैं। सबने दुःख प्रकट किया कि उसने अपना जीवन बर्बाद कर दिया। भीख माँगने की बजाय थोड़ा-सा अपने नीचे ही खोदकर देख लेता, तो वह निहाल हो जाता।

यह तो भिखारी का रूपक है, किन्तु यदि मैं आपसे पूछूँ कि आप अपने जीवन का कैसा उपयोग कर रहे हैं, तो आपका क्या उत्तर होगा ? क्या आपकी अवस्था भी उस भिखारी की सी नहीं है कि एक-एक पैसे के लिए आप न जाने क्या-क्या करते हैं, किन्तु अपने उस अन्तर्धन को नहीं शोधते, जो आपकी बुद्धि के नीचे दबा पड़ा है ? आज का मनुष्य बाहर के धन को लूटने की कोशिश कर रहा है— पैसे-पैसे के लिए छटपटा रहा है। इसी धन को खोजने और

पाने के लिए चारों ओर दौड़-धूप कर रहा है परन्तु जो अन्तर्धन उसके भीतर ही भीतर फैला हुआ है, उसको वह नहीं शोध पा रहा है। अन्तर्धन का धनी ऐसा इन्सान पुत्र से कहता है— सुख दो। पत्नी से कहता है— शांति दो और पड़ोसियों से कहता है— मुझे शांता उपजाओ। मगर वह भूला हुआ बैठा रहता है कि यह सुख, शांति और शांता उसी की आन्तरिकता में रम रही हैं।

“मेरे पास अपार अंतर्धन है और मैं भिखारी बनकर भटक रहा हूँ”— इस स्थिति पर गहराई से आत्म-चिन्तन करने की आवश्यकता है।

वक्रेक धि विऽकृक द्क जग्लः

मानव “आत्मा की अर्पणा” के योग्य तब तक नहीं बनता है, जब तक वह अपने अंतर्धन को खोजने और पाने की क्षमता एकत्रित नहीं कर लेता है। अंतर्धन की जिसको लगन लगती है, वह आत्मा के स्वरूप को निखारता है तथा निखरी हुई आत्मा ही भगवान के चरणों में अर्पणा के योग्य बनती है। इस योग्यता को पाने का रहस्य यही है कि वह दान, शील, तप और भावना का आराधन करे। जीवन की पवित्रता ऐसी आराधना से प्राप्त होगी।

आराधना के इन चार मार्गों को समझना जरूरी है। शक्ति के अनुसार उदारतापूर्वक दान दिया, तो उस दान के देने से भी मनुष्य अपने आपको स्वच्छ बनाता है। शील पालने से आन्तरिक जीवन का शृंगार होता है, तो तप की आराधना से तेज विकसित होता है। भावों की शुद्धता जीवन को शीर्षस्थ स्थान पर ले जाती है। इन चारों आराधनाओं में जो लीन होता है, वह अपने भीतर छिपे हुए अंतर्धन के खजाने को खोज निकालता है।

नकु द्क क्कुकुतेद एवः

त्याग का प्रतीक होने के कारण दान का भावनात्मक मूल्य विशेष महत्व रखता है। आप सोचते होंगे कि जिनके पास दान देने

योग्य वस्तु हो, वही तो दान दे सकता है, किन्तु मैं पूछूँ कि आप दान देने योग्य क्या समझते हैं ? अधिकांश लोगों का ख्याल है कि धन दान में दिया जाता है और जिनके पास धन नहीं है, वे दान में क्या दें ? मैं कहता हूँ कि अगर आवश्यकता के अनुरूप जिसके पास है—अधिक कतरई नहीं है, वह जो किंचित्—मात्र का भी त्याग करता है, उसका खरा दान माना जाता है। आवश्यकता से अधिकवाला बहुत ज्यादा दे देता है, फिर भी भावनात्मक दृष्टि से वह किंचित्—मात्र दान अधिक मूल्य रखता है।

जिसके पास धन नहीं है, पर बुद्धि हो, योग्यता हो अथवा अन्य शक्ति हो, उसको भी वह जब लोक—कल्याण में लगा देता है, तो यह भी उसका दान ही होता है। धन से तन का और तन से मन का दान अधिकाधिक ऊँचा होता है और ऐसे दानियों का जो इतिहास में उल्लेख है— वह आप से छिपा हुआ नहीं है। दान देना और दान लेना— इन दोनों प्रक्रियाओं में जब भावना का सर्वोपरि स्थान बन जाता है, तब दान में दिये व लिए जानेवाले पदार्थों अथवा तत्वों का मूल्य कम हो जाता है। आवश्यक है कि शुभ भावना दान के साथ संयुक्त बननी चाहिए।

दान के इस महत्व को समझकर जो दान और उसके साथ शील, तप तथा भावना की निष्ठापूर्ण आराधना करता है, उसकी आत्मा अवश्य ही पवित्र बनती है तथा भगवान के चरणों में अर्पण करने के योग्य बन जाती है।

vkrfjd t lbu dk fl gkoykdu dja

अन्तर्धन को प्राप्त करने के अभिलाषी साधक को अपने जीवन का सिंहावलोकन करना चाहिए। सिंहावलोकन का अर्थ क्या है ? न्याय की दृष्टि से पीछे मुड़कर देखना और भीतर देखना। असली सिंह सहसा या अनावश्यक रूप से शिकार नहीं करता है। कड़ी भूख लगने पर मस्ती से पीछे देखता है कि पीछे शिकार तो नहीं

छूट गया ? तब समग्र दृष्टि से उसका जो पीछे देखना होता है, वही सिंहावलोकन कहलाता है। मनुष्य को भी आत्मिक विकास के मार्ग पर ऐसी समग्र दृष्टि से सिंहावलोकन करना चाहिए कि वास्तव में उसने क्या खोया और क्या पाया ?

vtr/ni dk dkk %niZlor&LoPN vRek

दर्पणवत् स्वच्छ आत्मा को अन्तर्धन का कोष माना जाना चाहिए। जो मन में बाहर के धन को पाने की लोलुपता रखे और बाहर से स्वच्छता दिखाये— ऐसा कपटाचारी अशुद्धता से भरा हुआ होता है।

जिनकी आत्मा दर्पणवत् स्वच्छ बन जाती है, जो अपने अन्तर्धन को प्राप्त करके उसके स्वामी बन जाते हैं, उनमें किसी भी संकट का सामना करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान होती है। हमको भी यदि भगवान के चरणों में अपनी आत्मा को अर्पित करने का संकल्प लेना है, तो अपने अन्तर्धन को पहिचानने की दिशा में अग्रसर होना चाहिए।



आकाश के समान अनन्त इच्छाएँ

*Me fr ri Zk cgql Eer t k. k. s-----***

भगवान सुमतिनाथ के चरणों में आत्मा के अर्पण का विवेचन चल रहा है। अब कवि का संकेत है कि विविध प्रकार से भ्रमित होनेवाली अपनी मति का भी तर्पण कीजिए। आत्मा के समर्पण की भावना के साथ आन्तरिक शक्ति का द्योतन होता है, किन्तु मानव की मति कई रूपों में बहती है। इसे मति कहिए, इच्छा, भावना, कामना या और किसी नाम से पुकारिए— इसके अनेक मुँह हैं, अनेक धाराएँ हैं और यह रंग-बिरंगे रूपों में इधर से उधर प्रस्फुटित होती रहती है। यह इच्छा किसके लिए इधर से उधर फैल रही है ? एक दृष्टि से विचार किया जायें, तो मनुष्य के जीवन में जो अतृप्ति भरी हुई है, वही अनेक सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति में तृप्ति को मृगतृष्णा की तरह खोजती हुई यहाँ-वहाँ सब ओर उलझती रहती है।

अतृप्ति और वितृष्णा की राह पर चलती हुई यह इच्छा मति की शक्ति के साथ जुड़ी हुई रहती है। मनन मति है और मति की चिन्ता ही कामना की अभिव्यक्ति है। जब मनन के माध्यम से कामना में एक तीव्रता जागृत होती है और यह सोचा जाता है कि इसकी

पूर्ति के प्रति सन्तोष और शांति मिले, तब मति बाहर की ओर बाहरी पदार्थों को देखने चल पड़ती है। मति आत्मा की ही शक्ति है और वह बाहर की ओर नेत्रों के माध्यम से देखती है, कानों से बाहर के विषयों को सुनती है एवं इन्द्रियों के जरिये अपना उपभोग्य ढूँढना चाहती है। इन बाहरी पदार्थों की प्राप्ति के आधार पर उस मति की तृप्ति ढूँढने का प्रयास चलता रहता है।

रतिर द्वा हिमद नि 'कः

मति सोचती है कि अमुक देखी या सुनी हुई वस्तु को यदि मैं अपने समीप जुटा लूँ, तो मुझे तृप्ति मिल जायेगी, फिर मैं तुष्ट होकर जीवन को सुखी और शांतिमय बना लूँगी। इन दृष्टिकोणों से मति की गलत तीव्रता बनती है और वह तृप्ति की भ्रामक दिशाओं में भटकने लगती है।

परन्तु अनुभव बताता है कि इन दिशाओं में श्रम करने के बाद जब इच्छित पदार्थों की उपलब्धि भी होती है, तब भी तृप्ति प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों इच्छित पदार्थों की उपलब्धि होती जाती है, त्यों-त्यों असन्तोष की ज्वाला अधिक भड़कती जाती है और तृष्णा की तेजी बढ़ती जाती है। उस असन्तोष की अवस्था में मति अन्य-अन्य पदार्थों की उपलब्धि में दौड़ती है, किन्तु यह क्रम जैसे मिटता ही नहीं है। असन्तोष, प्रयास, प्राप्ति और फिर असन्तोष—यह सिलसिला प्रत्येक सुषुप्त आत्मा की मति में चलता है। ऐसी आत्मा चाहे छोटे शरीर में हो या बड़े शरीर में— मानव शरीर में हो या अन्य किसी भी प्राणी के शरीर में— आज देखें, तो लगता है कि उस आत्मा में असन्तोष की आग जल रही है, जिसकी पूर्ति नहीं होने से वह जन्म, जरा और मृत्यु के चक्करों में भटक रही है। जन्म के समय भी अतृप्ति उसके सामने मुँह खोले खड़ी रहती है, तो मृत्यु पर्यन्त वह तृप्त नहीं होती।

vrflr dk ; g t lou i ; Ir Øe

जीवन में कोई माता की कुक्षि से बाहर आया और उसकी मति जागृत हुई कि मुझे कुछ चाहिए— उसके बिना मैं अतृप्त हूँ। उसने अपनी उस कामना को व्यक्त करने के लिए रोना शुरू किया। माता झट समझ जाती है कि बच्चा क्यों रो रहा है ? वह उसे स्तनपान कराती है और बच्चा उसे अपनी तृप्ति का साधन समझकर स्तन को अपने मुँह में लेता है, किन्तु दूध पीते रहने के बाद भी वह पूर्णतया तृप्त नहीं होता। अतृप्त बनकर वह अपने नेत्र खोलता है और उसकी मति इधर—उधर के दृश्यों को देखने में लगती है। उनसे तृप्ति नहीं होती। फिर उसमें माता—पिता को पहिचानने की शक्ति आती है, तब वह उसके लिए बड़ी जिज्ञासा लेकर चलता है कि इनसे तृप्ति मिल जायेगी। लेकिन फिर उसकी अतृप्ति की आग भड़कती है, वह रोता है। माता—पिता उसके लिए तरह—तरह के खाद्य पदार्थ, खिलौने और दूसरी तरह की चीजें लाते हैं तथा उसे तृप्त करना चाहते हैं।

अतृप्ति के घेरों में बच्चा बढ़ता है— स्कूल जाने लायक बनता है— तब यह समझा जाता है कि स्कूली ज्ञान प्राप्त करने से उसकी अतृप्ति मिट जायेगी। वह इन्जीनियर बन जायेगा— डॉक्टर बन जायेगा, फिर अतृप्ति कहाँ बचेगी ? फिर वह अर्जन में तृप्ति ढूँढ़ता है, तब भोग में, मगर अतृप्ति का अन्त कहीं भी दिखायी नहीं देता। जीवन गुजर जाता है, मगर अतृप्ति नहीं जाती। बाहर के पदार्थों में जो तृप्ति को खोजता है, उसकी अतृप्ति अन्तहीन बन जाती है।

vkdk k&l h vult bPNk ;

शास्त्रकारों ने इसी अवस्था को देख कर कहा है— *“bPNk gq vkxkl l ek v. klr ; k*** अर्थात्— इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं। आकाश का अन्त पाना मनुष्य के लिए शक्य नहीं, वैसे ही मानव की इच्छाओं को तृप्त कर देना भी शक्य नहीं है। यह

ऐसा क्यों है ? इस पर आज चिंतन का जितना अभाव है, उतनी ही इच्छाओं की वितृष्णा भीषण होती चली जाती है।

मनुष्य सोचता है कि कामनाओं के झूलों में झूलते हुए जीने का उसे अभ्यास हो गया है— यही उसका जीवन—क्रम बन गया है। फिर भला वह चिन्तन क्या और क्यों करे ? अधिक से अधिक वह सोच लेता है कि अतृप्ति की अवस्था में ही वह मर जायेगा, उससे ज्यादा क्या ? मरने पर तो क्या तृप्ति मिल जायेगी ? यह तृप्ति का कैसा दृष्टिकोण बन गया है ? अन्तहीन इच्छाएँ जब मनुष्य के जीवन में उद्दाम बन जाती हैं, तब उसकी मति एक—एक करके उनकी पूर्ति में उलझती—भागती है परन्तु मरुस्थल की मृगतृष्णा की तरह जल कहीं भी दिखायी नहीं देता। एक इच्छा पूरी भी नहीं होती कि कई इच्छाएँ मुँह खेले खड़ी हो जाती हैं। संतोष का क्षण आये, उससे पहले असन्तोष की ज्वालाएँ सुलग उठती हैं। तृप्ति की आशा में अतृप्ति का बोझ ही बढ़ता रहता है। इसे ही संसार कहते हैं, जहाँ आकाश के समान अनन्त इच्छाएँ सदा मनुष्य की मति को बहलाती रहती हैं, मगर सारी भाग—दौड़ के बाद भी उस मति के हाथ सारपूर्ण कुछ लगता नहीं।

efr 'dq' l s 'l q' dh vky' c<f

इसीलिए प्रार्थना की पंक्तियों में संकेत दिया गया है कि ऐसी कुमति का तर्पण करें और भगवान सुमतिनाथ से सुमति की प्रेरणा लें। मति 'कु' से 'सु' की ओर बढ़े, तो यह इच्छाओं की वितृष्णा भी आत्म—नियंत्रण में आती जायेगी और संयमाराधन से तृप्ति का तट निकट पहुँचता जायेगा। इस कारण प्रार्थना के गूढार्थ में मति के तर्पण को ढूँढ़ना है। मति में इस प्रकार का यह लगाव विचित्र ढंग से क्यों बना हुआ है ?

आध्यात्मिक दृष्टि से यदि इसका आप अनुसंधान करेंगे, तो ज्ञान होगा कि यह जो मति है, वह सुमतिनाथ के चरणों में चढ़ने

लायक नहीं है। यह मति सुमति नहीं है— कुमति बनी हुई है। यह विपरीत मति है और इस विपरीतता के कारण ही अनन्त—इच्छाओं का यह सागर और तृष्णाओं का तेज बवंडर सामने आता रहता है। जिस वक्त इस मति में 'सु' का प्रवेश हो जाये, तो इच्छाओं का सारा सागर सूख जायेगा। आत्मा की सुमति आत्मा की शक्ति बन जाती है और उसी तरह उस का अध्यवसाय और उसका स्वभाव ढल जाता है। स्वभाव और विभाव की यही दृष्टि है। आत्मा स्वभाव की स्थिति छोड़कर जब पर-भाव में रमण करती है, तब पर-भाव के अनेकों तरह के रंग-बदरंग उस पर छा जाने से कई-कई इच्छाओं का उभार होता है और उन पर-पदार्थों की इच्छाओं के बोझ से आत्मा अपना स्वभाव भूलकर विभाव में खोने लग जाती है।

foHko vk\$ LoHko dh fLEkr; k

विभाव से स्वभाव की ओर बढ़ने की प्रेरणा ग्रहण करने के उद्देश्य से ही प्रार्थना का उच्चारण, मनन और चिन्तन होना चाहिए। जब सुमति आत्मा के स्वभाव में रम जाती है, तो वह भगवान सुमतिनाथ बन जाती है। सुमतिनाथ भगवान सुमति के खजाने बन गये— सुमति के दातार बन गये। वह सुमति जहाँ प्रवेश कर गयी, मान लें कि वहाँ तृष्णाओं पर भी नियंत्रण लग गया। सुमति संतोष है, तो कुमति असन्तोष की खान।

आप अनेक कथाएँ सुनते हैं— रामायण भी सुनते हैं। रामायण के कई पात्र हैं और इनमें एक रावण भी है। रावण में मति थी, इच्छा थी, भावना थी, परन्तु उसकी मति विभाव के रंग में रंगी हुई थी। विभाव का तात्पर्य यह है कि जिसका अपने स्वभाव से मेल नहीं, उस वस्तु पर अपना अधिकार करने की जो इच्छा होती है— उस स्थिति का नाम ही विभाव की स्थिति है। विभाव का अर्थ ही विपरीत मार्ग पर चलना है, तो उससे सुमति का उद्भव ही कैसे हो सकता है ? जहाँ विभाव है, वहाँ तो अतृप्ति और तृष्णा लगी हुई है। अमुक चीज

मैं ही ग्रहण कर लूँ, अमुक चीज मुझे तृप्ति के लिए मिले— ऐसी कामना विभाव में बनी रहती है।

आज मानव, मानव के बीच जिस तरह का बर्ताव दिख रहा है, उसके पीछे मानव की यही विकारी तृष्णा है, जो उसे विपरीत दिशा में गमन करा रही है। यदि मनुष्य वास्तव में अपने जीवन में सुख और शांति लाना चाहता है, तो उसे विभाव को छोड़कर स्वभाव की ओर मुड़ना होगा, अपने इस विकारी जीवन को संशोधित एवं परिमार्जित करना होगा तथा 'मति-तर्पण' भाव से चिन्तन-मनन करना होगा।

, d rlr pekj vls vrlr djlkfr

एक दृष्टान्त से विभाव और स्वभाव की स्थिति अधिक स्पष्ट होगी। एक तरफ जूते गांठनेवाला चमार बैठा है, बाजार की पटरी के एक कोने पर, तो दूसरी ओर ठीक उसके सामने एक बड़ी दूकान में बैठता है हीरे-जवाहरात का करोड़पति व्यापारी। रूखे-सूखे पर गुजर करनेवाला चमार और करोड़ों का वारान्यारा करनेवाला व्यापारी—दोनों की कोई तुलना नहीं है।

दोनों की धाराएँ बिल्कुल अलग-अलग हैं और दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न। लेकिन एक खुशहाल है— प्रसन्नता से अपने दिन गुजारता है और भगवद्-भजन भी करता है। दूसरा दो पल आराम से नींद लेना चाहता है, तो नींद भी नहीं आती। वह नींद के लिए गोली लेता है, मगर व्यापार में घाटे के टेलीफोन आते हैं और वह गोली भी बेकार हो जाती है। सेठ सोचता है— यह दरिद्री चमार मस्ती से सोता है और मुझे नींद भी नसीब नहीं। वह चमार को बुलाता है और उससे उसके अच्छे स्वास्थ्य व मीठी नींद की औषधि पूछता है। चमार कहता है—औषधि मुझे नहीं मालूम, मैं तो प्रेम और पुरुषार्थ तथा सूखी रोटी और सन्तोष को जानता हूँ। सेठ उससे शिक्षा लेता है और अपनी तृष्णाओं को कम करता है। मन पर नियंत्रण और परिश्रम से स्वास्थ्य सुधरने लगता है।

उपकार जताने के लिए सेठ चमार को बुलाकर पचास रुपये पुरस्कार में देता है— बहुत मना करने पर भी अति आग्रह से चमार उस राशि को ले लेता है। इतने रुपये एक साथ चमार ने देखे भी नहीं थे। उनकी रखवाली की नयी चिन्ता चमार पर सवार हो जाती है। वह काम भूल जाता है और तृष्णा का चक्कर उसे घेरने लगता है तब वह अतृप्ति का मूल समझकर उस राशि को पुनः सेठ को लौटा देता है और कहता है कि इस से आपने मेरा उपकार नहीं, अपकार ही किया है। रुपये लौटाकर वह फिर तृप्ति का स्वाद चखने लगा, निश्चिन्त होकर सोने और भजन करने लगा।

मैं पूछता हूँ आपसे कि आप भी भजन करने बैठते हैं न, सामायिक करते हैं न ? उसमें आपकी मति डोलती तो नहीं, तृष्णा और इच्छाएँ उछलकूद तो नहीं मचाती ? वह जाति से भले चमार था, मगर सुमति का धनी था। सुमति आपमें कहाँ तक है और कहाँ तक नहीं है— यह आपका विचारणीय विषय है, किन्तु इस सत्य को समझ लीजिए कि जहाँ सुमति है, वहाँ तृप्ति है और अतृप्त रहकर कुमति का भटकाव चलता ही रहता है।

xqk t kfr eaugh l qfr eaghrs gā

आप सोचते होंगे कि उस चमार की क्या मति थी ? परन्तु तत्व-ज्ञानियों की दृष्टि में वास्तव में उसके पास सुमति थी। आप मत सोचिए कि इस सुमति का ठेका उच्च जातिवालों ने ही ले रखा है। सुमति का प्रभाव जिसमें होता है, वह मनुष्य छोटी-बड़ी जाति की दृष्टि से चाहे कैसा भी हो— इस से उसके गुणों में कोई अन्तर नहीं आता। सुमति आत्मा का गुण है। इसे कोई भी अपनी जागृति और उन्नति से प्राप्त कर सकता है। जाति कभी इस में बाधक नहीं होती। वह चमार पचास रुपयों के नोटों को जब लौटा देता है, तो वह मन में एक प्रकार से तुष्टि का अनुभव करता है।

यह एक छोटा-सा दृष्टान्त मैंने आपके सामने रखा है, जिस पर आप चिन्तन करें एवं सुमति के महत्व को समझें। सुमति को अपने मन में स्थान दीजिए। तब आप अनुभव करेंगे कि आपकी इच्छाएँ समाप्त होती जा रही हैं और आप एक अनुपम आत्मिक आनन्द का रसास्वादन करने लगे हैं। दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती इन सारी इच्छाओं पर अंकुश लगाने के लिए उद्यम करना होगा और वह उद्यम है कि आप अपनी इच्छाओं का भगवान सुमतिनाथ के चरणों में तर्पण कर दें। फिर देखें कि आपके भीतर कितना प्रकाश प्रकट होता है और आपकी सुमति कितनी निर्मलतर बनती जाती है।

egkr".kk dk orĒku l lekt:

आज संसार में देखा जाये, तो तृष्णा और इच्छा की दृष्टि से अराजकता-सी फैली हुई है। भौतिक पदार्थों के लिए चारों ओर असन्तोष व्याप्त है। अधिकांशतः लोग अपनी ही इच्छा पूर्ति की ओर ध्यान देते हैं, उसी के लिए खरा-खोटा सब कुछ करने से नहीं हिचकते। स्वार्थ की ऐसी क्षुद्र दशा में सहयोग तथा सहानुभूति के द्वार स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। जिसने अपने जीवन में इच्छाओं की गुलामी स्वीकार कर ली- स्वार्थ को सिर पर चढ़ा लिया, तो वहाँ से मानवता का अनुभाव मन्द पड़ने लग जाता है।

जब स्वार्थ की ऐसी क्षुद्रता समाज के व्यापक क्षेत्र में विस्तृत होने लगती है, तो एक नये ही प्रकार का न्याय चलता है, जिसे आज की आर्थिक भाषा में 'मत्स्य न्याय' कहा जाता है। इसका अर्थ है कि बड़ा मच्छ छोटे मच्छ को खाता रहता है। समाज में जिसके पास भौतिक पदार्थों अथवा अधिकारों की अधिक शक्ति होती है, वह अपने से कम शक्तिवालों का शोषण करता रहता है और इस प्रकार चोटी पर जाकर कुछ लोग सारे समाज पर अपना नियंत्रण कर लेते हैं तथा उसका संचालन अपनी स्वार्थ-पूर्ति की दृष्टि से करने लग जाते हैं। ऐसा 'मत्स्य न्याय' जब प्रबल बनता है, तो सम्पन्न एवं

अभावग्रस्त—दोनों वर्ग अपनी नैतिकता से हाथ धोते जाते हैं, क्योंकि एक वर्ग शक्ति के अभिमान में, तो दूसरा वर्ग अशक्ति की विवशता में अनैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ता है और इस तरह सारे समाज में मानवीय गुणों का ह्रास होने लगता है।

‘मत्स्य न्याय’ की ऐसी दुर्दशा आज चारों ओर छायी हुई दिखायी देती है और इसे ही महातृष्णा का साम्राज्य कहा जा सकता है। यह महातृष्णा की स्थिति कुमति के विकृत रूप की परिचायिका है।

l d̥fr l s l Ei fūk % d̥fr l s foi fūk

कुमति के इन वितृष्णा—भरे घरों से निकलने का यदि अपना संकल्प सुदृढ़ बनाना है, तो श्री सुमतिनाथ प्रभु के चरणों में प्रार्थना करें कि कुमति का तर्पण होकर सुमति का ग्रहण हो, ताकि प्रभु के चरणों में अर्पण करने योग्य यह आत्मा बन सके। भगवान से प्रार्थना करनी है, याचना नहीं। याचना अकर्मण्यता की स्थिति बताती है, तो प्रार्थना पराक्रम और पुरुषार्थ की प्रतीक होती है। प्रार्थना करनेवाला सीधी प्राप्ति नहीं चाहता और न भगवान किसी को कुछ देते—लेते हैं। इसलिए प्रार्थना से पराक्रम एवं पुरुषार्थ जगाकर साधक साधना में तल्लीन होता है तथा उसी के बल पर आत्मिक उन्नति की ऊँचाइयों पर चढ़ता है।

किन्तु प्रार्थना से ऐसी शक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब कुमति को छोड़कर अपने जीवन में सुमति रमा ली जाये। सुमति की प्रेरणा से ही प्रार्थना सफल बन सकती है, क्योंकि वही मनुष्य को आकाश के समान अनन्त इच्छाओं के जाल—जंजाल से मुक्ति दिलाती है। तभी कहा है—

t gk l d̥fr rgal Ei fr ukūA
t gk d̥fr rgafoi fr funkūAA

जीवन के चिन्तन और आचरण में यदि सुमति प्रवेश कर जायेगी तो वहाँ फिर सम्पत्ति की कामना नहीं रहेगी— भले ही सम्पत्ति का अम्बार लग जाये क्योंकि सुमति से जो आत्मिक सम्पत्ति मिलेगी उसकी तुलना में भौतिक सम्पत्ति सर्वथा निस्सार लगने लगेगी। जहाँ सुमति है, वहाँ संतोष है और जहाँ संतोष है, वहाँ श्रेष्ठ जीवन संतुलन स्वतः पैदा हो जाता है। इससे विपरीत कुमति भटकाती है और सुख और शांति के समीप तो कभी ले जाती ही नहीं है। कुमति से आत्मिक उपलब्धियों का तो प्रश्न ही नहीं, किन्तु भौतिक प्राप्तियाँ भी अधिकतर दुर्लभ बनी रहती हैं। जहाँ कुमति है, वहाँ तो नाना प्रकार की विपत्तियों का ही आगमन होता है।

bPNkV dh fuN"V nkl rk

कुमति के वशीभूत होकर मनुष्य जब अपनी इच्छाओं और वासनाओं की निकृष्ट दासता स्वीकार कर लेता है, तब उसका— अपनी आत्मा का स्वभाव विभाव में विकृत बन जाता है।

आकाश के समान इच्छाएँ अनन्त अवश्य होती हैं, किन्तु आत्मा की आन्तरिक शक्ति उससे भी अधिक अखूट होती है। वह शक्ति जागृत तभी होती है, जब इच्छाएँ आपको नहीं चलायें, बल्कि आप अपनी इच्छाओं को चलाओ— इच्छाओं के आप स्वामी बनो। तब इच्छाएँ आपका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेंगी— आपकी आत्मिक उन्नति में बाधाएँ नहीं डाल सकेंगी। सुमति एवं संयम के तेज के आगे वे इच्छाएँ सूखे पत्तों की तरह खुद ही झर जायेंगी। आवश्यकता है कि आप ऐसा स्वामित्व ग्रहण करें।



गुणमूलक जीवन का निर्माण

“niZk t.e vfodlj jsKkuh-----”

सुमतिनाथ भगवान की प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण परमात्मा के मंगलाचरण के रूप में चल रहा है। प्रभु की मंगलमय याद करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि उनकी बदौलत ही आज के अंधकारमय संसार में प्रकाश का मार्ग दिखायी देता है। यदि वीतराग देव ने यह आध्यात्मिक प्रकाश लोक और अलोक के स्वरूप के साथ प्रदान नहीं किया, तो आप भी दूसरों की तरह अंधेरी गलियों में ही भटकते। प्रभु ने जिस गुणमूलक जीवन के निर्माण की दिशा बतायी है, वही सच्ची दिशा है, जिस ओर बढ़कर मनुष्य प्रकाश की किरणें पा सकता है।

आज इस विचित्र संसार में विचित्र मनुष्यों के मस्तिष्कों से विचित्र कल्पनाओं एवं विचारों का इधर से उधर प्रसार हो रहा है। इन कल्पनाओं एवं विचारों के अन्दर वास्तविक शांति का संकेत नहीं है। ये विचार बहुसम्मत भी नहीं हैं। इन विचारों में न मन का संतोष है और न आत्मा की तृप्ति। गहराई में उतरें, तो ये बुद्धि को भी सन्तुष्ट नहीं करते हैं। यद्यपि बुद्धि का फैलाव तीव्र गति से बढ़ रहा

है, लेकिन स्वयं इस बुद्धि में जो अभाव बना हुआ है, उसका ध्यान स्वयं बुद्धि को नहीं हो रहा है। बुद्धि का यह अभाव है, दिशासूचक ज्ञान की कमी— जिसके बिना गंतव्य स्थान तक नहीं पहुँचा जा सकता है।

बुद्धि यदि इसी आध्यात्मिक प्रकाश को हृदय में उतार ले और उसके उजाले में सही रास्ते पर आगे बढ़े— तभी चरम सीमा की उत्कृष्ट शांति तक भी पहुँचा जा सकता है। उस सही दिशा एवं सही रास्ते का निर्देश देने के लिए ही परमात्मा की स्तुति के माध्यम से गुण—मूलक जीवन निर्माण के शास्त्रीय दृष्टिकोण को यहाँ समझने का प्रयास करें।

rhu rjg dh vkrkvd dk Lo: i

इस प्रार्थना में तीन तरह की आत्माओं के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा के ये तीन स्वरूप हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा। बहिरात्मा का स्वरूप बाहरी दृश्यों के साथ है। दिखायी देनेवाले पदार्थों के साथ बाहरी सुखों की आकांक्षा है। यह आकांक्षा बुद्धि की निर्मलता को धूमिल करने तथा इन्सान की वास्तविक इन्सानियत को हैवानियत में बदलनेवाली है। उसी बहिरात्मा के लिए— उलझी हुई आत्मा के लिए सम्बोधन है कि भगवान के चरणों में अर्पित होकर अपने बाहरी आवरण को धो डाले। बाहरी मैल अगर धुल गया, तो आन्तरिक स्वच्छता उभरकर जाग जायेगी। बाहरी रौनक कितनी ही जोरदार क्यों न दिखायी देती हो, किन्तु अगर उसका अन्दर का स्वरूप मैला हो, तो वह बाहरी रौनक इन्सान के लिए कभी भी सुखदायी नहीं हो सकती है।

बाहर की साज—सज्जा कृत्रिमता से की जा सकती है, किन्तु आन्तरिक स्वच्छता मन के संयम एवं बुद्धि की निर्मलता से ही साधी जा सकती है। उसके लिए कृत्रिमता काम नहीं देती। कृत्रिमता से मलिनता में ही वृद्धि होती है। आन्तरिक पवित्रता के लिए तो गुणों की

अभिवृद्धि के रूप में ही सारे जीवन का निर्माण करना होता है, जिस निर्माण का मूल भी गुणाधारित ही होना चाहिए।

बहिरात्मा जब बाहर के झूठे प्रलोभनों को छोड़कर अपने भीतर के स्वरूप में रमण करने लगती है, तब उसका स्वरूप अन्तरात्मा के रूप में ढलने लगता है और जब वह अन्तरात्मा सर्वांग रूप से निर्मल एवं पवित्र बन जाती है, तब वही आत्मा परमात्म-स्वरूप ग्रहण कर लेती है। आत्मा के ये तीनों स्वरूप एक प्रकार से गुण-मूलक जीवन-निर्माण के तीन सोपान हैं, जो आत्मा की पतित, उन्नत एवं सर्वोन्नत दशाओं के प्रतीक हैं।

t hu vlg Qw dk : id

शास्त्रकारों ने मानव-जीवन की विविध दशाओं का उल्लेख फूलों के रूपक के साथ किया है। चार प्रकार के फूलों के माध्यम से जीवन की चार दशाओं का अंकन किया गया है। उन फूलों का वर्णन इस प्रकार है—

(1) एक फूल बाहरी दृष्टि से बड़ा मोहक मालूम होता है, आकर्षक दिखायी देता है, लेकिन उसमें बाहर की सम्पन्नता के साथ गन्ध की सम्पन्नता नहीं होती। वह सुगन्ध-शून्य होता है।

(2) दूसरा फूल बाहर से सुन्दर दिखायी नहीं देता— अधिक आकर्षक भी नहीं लगता, फिर भी अन्दर में सुगन्ध से लबालब भरा होता है। चारों ओर उसकी सुगन्ध बिखरी पड़ी है।

(3) तीसरा फूल बाहर से भी अति सुन्दर, तो भीतर से भी अति सुगन्धित होता है।

(4) चौथा फूल ऐसा होता है, जो न बाहर से सुन्दर और न भीतर सुगन्धित होता है। सुन्दरता और सुगन्ध का अंश भी उसमें नहीं होता।

ऐसे चार तरह के फूलों की उपमा शास्त्रकारों ने मनुष्य-जीवन

के साथ दी है। इस विराट विश्व में इस तरह चार प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। प्रार्थना में जो तीन प्रकार की आत्मों का उल्लेख है— इन चारों प्रकारों का भी उसी में समावेश हो जाता है। पहले और चौथे फूल का प्रकार बहिरात्मा में आ जाता है।

ckgj lsl Hhrj lsvl Hhrj

मनुष्य बाहर के रूप की दृष्टि से बड़ा सुन्दर है, लेकिन वह सुन्दरता उस कृत्रिम पुष्प की तरह आकर्षक है, जो ऊपर से दिखने में मोहक है, पर अन्दर में सुगन्ध—रहित है, वह मनुष्य आत्मिक गुणों से शून्य होगा। उसके अन्दर का स्वरूप आत्मिक गुणों से लगाव के अभाव में एक दूसरे के साथ स्नेह के तंतुओं से जुड़ा हुआ नहीं होगा। परिवार में स्नेह का एक गुण व्याप्त होता है, लेकिन बाहर से सुन्दर और भीतर से असुन्दर उस मनुष्य में वह आत्मीय गुण भी नहीं होता है। परिवार में ही जब उसमें निःस्वार्थ स्नेह के गुण का अभाव होगा, तो समाज, राष्ट्र और विश्व के क्षेत्र में उसका स्नेह कैसे फैल सकेगा और कैसे उसके जीवन में “सर्वभूतेषु मैत्री” का सिद्धान्त साकार रूप ग्रहण कर सकेगा ?

पहली नजर में बाहर की सुन्दरता दिखायी देती है और उससे क्षणिक आकर्षण पैदा हो सकता है, किन्तु ज्यों ही उसके साथ जरा—सा भी सम्पर्क हुआ कि भीतर की असुन्दरता फूट पड़ेगी और वैसी स्थिति में बाहर की सुन्दरता तुरन्त आँखों से ओझल हो जायेगी। स्थायी भाव का प्रभाव केवल भीतर की सुन्दरता से होता है। पहले प्रकार के पुष्प के स्वभाववाला मनुष्य ऊपर से भले आकर्षक लगे, लेकिन वह अन्दर से शून्य होता है और जब कभी उसकी भीतर की असुन्दरता आक्रामक बनकर बाहर फूटती है, तो वह राग—द्वेष के एक घिनौने वातावरण की ही रचना करती है।

ckgj lsvl qhj Hkrj lsl qhj

दूसरे प्रकार के पुष्प की तरह जो मनुष्य बाहर के रूप की अवस्था से तो असुन्दर है, किन्तु भीतर से सुन्दर ही सुन्दर है, वह सर्वप्रिय और सर्वसुखकर होता है। जिसके अन्दर के जीवन में गुणों की समग्र सुगंध भरी हुई होती है, वैसे रूप-शून्य मनुष्य का जहाँ भी जितना भी सम्पर्क होता है, वह प्रत्येक आत्मा को सच्ची तृप्ति कराता है। उसकी आन्तरिक सुगंध सामनेवाले व्यक्ति और वातावरण पर इस तरह का आकर्षक प्रभाव डालती है कि उसे भी आत्मीय गुणों की सफल प्रेरणा प्राप्त होती है। ऐसे विशिष्ट पुरुष वर्तमान में भी देखे जा सकते हैं तथा प्राचीन काल में भी इनका उल्लेख आता है।

शास्त्रों में वर्णित ऐसे महापुरुषों में से एक हरिकेशी मुनि का नाम है। वे जाति की दृष्टि से आजकल के कृत्रिम जाति-विभाग के अनुसार ओसवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी या ब्राह्मण जैसी जाति में उत्पन्न नहीं हुए थे, बल्कि चांडाल जाति में उनका जन्म हुआ था। उसके बाद शारीरिक रूप की दृष्टि से वे अत्यन्त ही अप-रूप एवं लावण्य-रहित थे। उनके वर्ण को तवे के पेंदे की उपमा दी जा सकती थी, तो गंध के हिसाब से उनके शरीर से दुर्गन्ध फूट पड़ती थी। उनकी आकृति अरुचिपूर्ण तथा भीषण थी।

gfjds'kh eqj dk plkj=

बालक हरिकेशी बाह्य रूप-गंध की ऐसी स्थिति में सबकी घृणा एवं अरुचि का तो पात्र था ही, किन्तु स्वयं भी उस स्थिति से अपनी अन्तरात्मा को कलुषित बना रहा था। पिता किसी प्रकार उसका विवाह करना चाहता था, किन्तु जाति की कोई कन्या उसके लिए तैयार नहीं हुई। यहाँ तक कि उसने भाई-बहिन का ही सम्बन्ध जुड़ाना चाहा, (जैसा कि उस समय उस जाति में प्रचलित था) तो हरिकेशी की बहिनों ने भी उसकी कुरूपता के कारण आत्मघात करना उचित समझा, किन्तु उस सम्बन्ध से इनकार कर दिया।

एक बार चांडाल जाति की पंचायत लगी हुई थी और अपनी कुरूपता के शोक में डूबा बालक हरिकेशी दूर एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। उस समय उसने देखा कि पंचायत की जाजम पर एक काला सर्प निकला, जिसे लोगों ने मार डाला। लेकिन कुछ देर बाद वहीं सर्प जाति की एक दुमुही निकली, तो सबने उसकी पूजा की। यह देखकर बालक सोचने लगा कि ये दोनों जन्तु एक ही जाति के थे, किन्तु अपने अन्दर के गुणों के कारण दोनों के साथ अलग-अलग व्यवहार हुआ। जो भीतर के जहर को बाहर फैलाता था, उसे मार डाला गया और जो दुमुही भीतर जहर नहीं रखती थी, उसकी पूजा की गयी। उसकी अन्तरात्मा में एक नयी जागृति ने जन्म लिया कि बाहर की असुन्दरता के बावजूद अन्दर की सुन्दरता से सबको प्रभावित किया जा सकता है। हरिकेशी ने सोचा कि मेरी बाहरी कुरूपता को देखकर लोग मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, किन्तु यदि मैं अपने आन्तरिक जीवन में गुणों की सुगंध भर लूँ तो मेरे जीवन का नक्शा बदल सकता है। यह सोचते-सोचते उन्हें जाति-स्मरण ज्ञान हो आया अर्थात् उन्हें अपना पूर्व-भव ज्ञात हो गया, जिसके अनुसार वे जान सके कि इस भव में ऐसा अपरूप उन्हें क्यों मिला ?

तब दृढ़ संकल्पी बनकर हरिकेशी ने मुनि-व्रत अंगीकार किया एवं कठोर तपस्या के द्वारा आत्मा को साधनारत बनाकर अपने जीवन को आध्यात्मिक सुगन्ध से भर लिया— इस चारित्र का काफी विशद वर्णन है। मुनि हरिकेशी सिद्ध हो गये— आज सभी उनको नमस्कार करते हैं— 'णमो सिद्धाणं' कहते हैं। वे बाहर से असुन्दर होते हुए भी 'सुन्दरम्' के श्रेष्ठ स्वरूप को प्राप्त हो गये— यही भीतरी सुन्दरता की विशेषता है।

, Is Qyldh I q; k de D: k |

आज कई लोग सोचते हैं कि जैनों की संख्या कम होती जा रही है। पहली बात तो यह जान लें कि जैन शब्द जातिवाचक नहीं

है, गुणवाचक है। जो अपने आत्म-शत्रुओं को परास्त करके अपने जीवन को सर्वविजेता बना लेते हैं, वे 'जिन' कहलाते हैं और उनके अनुयायियों को 'जैन' कहा जाता है। जैन गुण-सम्पन्न होना चाहिए, किन्तु आज इस बात के कई बार विपरीत दृश्य सामने आते हैं। जो ऊँचे कुल में जन्म लेनेवाले हैं, वे शास्त्र श्रवण में अपनी तत्परता भी दिखाते हैं, किन्तु अधिकतर वे ऊपर की सजावट के कार्यों में तल्लीन रहते हैं और आन्तरिक गुणवृद्धि की दृष्टि से उनका चिंतन महत्वपूर्ण नहीं होता है। क्या ऐसी स्थिति पहले प्रकार के फूल की तरह नहीं हो जाती है ? फिर जैनों की संख्या बढ़े- इसके पीछे कितने योगदान की जरूरत है, जो आपके स्वरूप को सुधारे एवं उन लोगों को जैनत्व की चेतना भी प्रदान करे, जिन्हें अपने आत्मिक गुणों को उन्नत बनाने की सफल प्रेरणा दी जा सकती है। यदि ऐसा योगदान आप लोगों की तरफ से सशक्त रूप में आता है, तो ऐसे फूलों की संख्या बढ़ सकती है, ऊपर से सुन्दर हों या न हों, किन्तु जिनके भीतर की सुन्दरता दमकने लगी हो। संत लोग अपनी मर्यादा में ऐसा प्रयास करते हैं, किन्तु उन प्रयासों को बराबर सम्हालने पर ही गुण-सूचक जीवन-निर्माण की दिशा को बल दिया जा सकता है।

Neelky Iekt dk t le

इस दिशा में सन्तों के प्रयास की दृष्टि से मैं यह बात सामने रख रहा हूँ कि जब मैं मालव प्रदेश में विहार कर रहा था, तब वहाँ की हरिजन जातियों में बलायी जाति के कई लोग मेरे पास आये और कहने लगे कि हम अपने जीवन को ऊँचा बनाना चाहते हैं, किन्तु कई लोग प्रलोभन आदि से विधर्मी बन रहे हैं, अतः हमें सहारे की जरूरत है। मैंने कहा- तुम कुछ उठो और अगर तुम स्वयं उठते हो, तो सहारा देनेवाले भी मिल सकते हैं। फिर उनके कई मुखियों ने दारु-मांस आदि दुर्व्यसनों का त्याग किया एवं बताया कि एक गाँव में 70 गाँवों के बलाइयों के पंच एकत्रित होनेवाले हैं। वहाँ सन्तों को

पहुँचने के लिए उन्होंने आग्रह किया और कहा कि इससे बहुत भला हो सकेगा। हम वहाँ पहुँचे। भगवान धर्मनाथ की प्रार्थना करने के बाद उनको बोध दिया। उनके अन्दर सुगन्ध दबी हुई थी। यद्यपि ऊपर की दृष्टि से वे रूपवान नहीं थे अर्थात् आप सरीखी पोशाकें सजाये हुए नहीं थे, लेकिन उनके भीतर के गुणों के संस्कार उभरकर बाहर आये। वहाँ 70 गाँवों के लोगों ने दारु—मांस आदि दुर्व्यसनों का त्याग किया।

उन्होंने कहा— महाराज! ये सब त्याग लेने के बाद हम चाहते हैं कि हम अन्य असंस्कारी हरिजनों के पहले जैसे सम्पर्क में न रहें, अतः हमारे समाज को आप नया रूप दीजिए। मैंने उनसे कहा— अभी धर्मनाथ प्रभु की प्रार्थना की गयी है और आपने उनके धर्म पर चलने का निर्णय लिया है। इस दृष्टि से आपके समाज का नामकरण धर्मपाल जैन किया जा सकता है। इस प्रकार आन्तरिक गुणों की सुगंध जब बाहर फैली, तो इस धर्मपाल समाज का जन्म हुआ।

सन्त—मर्यादा के अनुसार इस शुभ कार्य का प्रारंभ हुआ। इसके बाद इन नये जैनों के जीवन को कैसे सम्हाला जाता है— इस ओर सभी दृष्टि बिन्दुओं से देखने का काम आपका है। इस क्षेत्र में इन लोगों की संख्या लाखों की है। वहाँ अब शिक्षण संस्थाएँ भी खोली गयी हैं तथा संस्कार निर्माण का कार्य चल रहा है। धर्मपाल धूलजी भाई ने जिस दृढ़ता का परिचय दिया, वह सराहनीय है। आज जब कि ऊँचे कुलवाले दारु—मांस आदि के दुर्व्यसनों में फँसते जा रहे हैं, वहाँ आपकी दृष्टि से नीच कुल के कहलानेवाले ये लोग दुर्व्यसनों से अपने को ऊपर उठा रहे हैं, इसे गुण—सम्पन्नता ही कहेंगे।

t kr Aplj ijlrql dly d's s |

आप अपने आपको ऊँची जाति तथा उत्तम कुलवाले मानते हैं, परंतु क्या आपने अपने यहाँ अच्छी—बुरी बातों की खोज की है ?

क्या आप लोगों में कहीं कोई सब्जी खाने से मांस भक्षण की ओर तो नहीं बढ़ रहे हैं ? क्या ऐसे अश्लील उपन्यास आपके युवक व छात्र लोग नहीं बढ़ते, सिनेमा नहीं देखते तथा जुआ नहीं खेलते, जिनसे सारे जीवन का नक्शा ही उल्टा हो जाता है ? आप नवयुवकों के बिगाड़ का दोष शिक्षा-पद्धति को देते हैं- वह भी सही हो सकता है, लेकिन क्या इस दोष के भागी आप स्वयं नहीं हैं, जिन्होंने उन्हें उनके बचपन में संस्कार दिये हैं ? इस दृष्टि से क्या आपने आत्म-निरीक्षण किया है कि आपके आचार-विचार कैसे हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर आप खुद ही खोजिए और अपने समग्र जीवन में अब भी स्वच्छता एवं सुगंध का समावेश कीजिए, ताकि बाहर के रूप के साथ भीतर के स्वरूप का भी समुचित विकास हो सके।

जाति और कुल की उच्चता-मात्र से जीवन की उच्चता नहीं बनती है, जब तक कि उस ऊँचाई तक संस्कारों का श्रेष्ठ निर्माण न हो। आज मेरे भाई और बहिनें आध्यात्मिक जीवन को ग्रहण करने में अशक्तता का अनुभव करते हैं, उसका कारण यह है कि उनके मस्तिष्क बाहरी सुन्दरता की साज-सज्जा में उलझे हुए हैं तथा आन्तरिक सुन्दरता की तरफ उनका लक्ष्य नहीं है। जैसे वायु रोगवाला आवश्यक भोजन भी पूरा नहीं कर पाता है, उसी प्रकार बाहरी सुन्दरता-मात्र के रोगी इस आध्यात्मिक भोजन की आवश्यक खुराक भी ग्रहण नहीं कर पाते हैं। वीतराग वाणी का मार्ग-दर्शन एवं तीर्थकरों के संस्कार पाकर भी यदि आप लोग भीतर की सुगंध को प्रस्फुटित नहीं कर सकते हैं, तो यह आपकी अतीव दुर्बलता ही कहलायेगी।

जो बाहर से असुन्दर हैं, वे तो भीतर की सुन्दरता को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ रहे हैं, उन्हें उचित सहयोग की आवश्यकता है, किन्तु आप लोग जो अधिकांशतः बाहर से सुन्दर हैं तथा आन्तरिक सुन्दरता की प्राप्ति के सहज साधन आप को उपलब्ध हैं, फिर भी आप अपने आचार-विचार में पवित्रता लाने का सच्चा प्रयास

न करें, तो आपका यह गन्धहीन रूप किस काम का ? इस बहिरात्मा के रूपक से आपको निकलकर अन्तरात्मा में प्रवेश करना चाहिए, ताकि ऊँचे संस्कारों के साथ ऊँची जाति व कुल की गरिमा बनायी जा सके।

ckgj Hh I fhj/ Hhrj Hh I fhj

तीसरा सर्वश्रेष्ठ प्रकार उस पुष्प का कहा गया है, जो बाहर से भी मोहक हो तथा भीतरी सुगंध से भी भरपूर हो। रूप एवं गंध सम्पन्न ऐसे पुरुष अपने आन्तरिक उन्नायक स्वरूप के कारण अपने बाहर के रूप को भी सार्थक बनाते हैं। ऐसे शास्त्रीय चारित्रों में अनाथी मुनि का उल्लेख आता है।

परिपूर्ण भौतिक-सम्पन्नता भी जब उनके रोग को शान्त नहीं कर सकी, तो उन्होंने अपने देह-सौन्दर्य सहित बाहर की सारी उपलब्धियों को कतई निरर्थक मानकर अपने को अनाथ समझा तथा रोग शांति के बाद मुनिधर्म अंगीकार करने का संकल्प लिया। फिर वे अनाथी मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। मगध सम्राट श्रेणिक ने जब उद्यान में ध्यानस्थ अनाथी मुनि को पहली बार देखा, तो उनकी अद्भुत शारीरिक कान्ति एवं आत्मिक प्रतिभा को देखकर वे आश्चर्यान्वित हो उठे। उनके मुँह से निकला- अहो! कैसा वर्ण है! कैसा रूप है! कितनी सौम्यता है तथा योग में ये किस प्रकार निष्णात है! रूप के साथ जब गुण का संयोग बैठता है, तब वह रूप भी अति आकर्षक बन जाता है। श्रेणिक ने जब अनाथी मुनि के साथ चर्चा की, जिसका विस्तृत वर्णन अनाथ-सनाथ के रूप में आया है, तब तो उनके त्यागमय गुणों से वे अत्यधिक प्रभावित हुए। उस गुण-सम्पन्न रूप को देखकर राजा का अपने रूप का अभिमान चूर-चूर हो गया। गुणों की सुगंध सचमुच ही समग्र वातावरण को रम्य बना देती है। बाहर भी सुन्दर और भीतर भी सुन्दर- यह सौन्दर्य की उच्च श्रेणी बन जाती है। ऐसे पुरुषों का प्रबोध भी सार्थक बनता है। अनाथी मुनि की

आत्मा तो श्री सुमतिनाथ प्रभु की सेवा में अर्पणा के योग्य थी ही किन्तु उनके प्रबोध से महाराज श्रेणिक भी अपने आत्मार्पण के लिए तत्पर बन गये।

1 [hjr] u [kgj] u [Hrj]

चौथी श्रेणी के पुरुष वे हैं, जो न रूप-सम्पन्न हैं और न गंध-संपन्न। ऐसे पुरुषों के नमूनों को ढूँढने की जरूरत नहीं पड़ेगी। यहाँ-वहाँ और सभी जगह वे मिल जायेंगे। आन्तरिक कुरूपता की स्थिति में उनका बाहर का अपरूप भी अधिक भयंकर बन जाता है, अन्यथा आन्तरिक गुण-सम्पन्नता की स्थिति में बाहर का अपरूप भी आत्मिक-सौन्दर्य से भरपूर बनकर प्रभावशाली हो जाता है। वास्तव में भीतरी सुन्दरता ही बाहरी सुन्दरता को प्रभावशाली बनाती है।

जीवन के इन प्रकारों पर हकीकत में चिन्तन करने की आवश्यकता चौथी श्रेणी के लोगों के लिए सब से ज्यादा है। बाहर की कुरूपता से वे भौतिक दृष्टि से दुःखी होते हैं, तो दूसरी ओर वे आत्मिक गुणों के अभाव में अज्ञानवश भीतरी सौन्दर्य को चमकाने में भी प्रयासरत नहीं बनते हैं। अतः यदि वे जीवन के इन प्रकारों पर गहराई से विचार करें, तो उनके जीवन को यह नयी जागृति नया रूप प्रदान कर सकती है।

vki dh Jskh dh t [p] vki Lo; a dja

फूलों के इस रूपक से आप ही अपने जीवन को सामने रखकर जांच करें कि आप किस श्रेणी में हैं? आपका जीवन किस प्रकार के फूल के समान है? वर्तमान परिस्थितियों में अपनी आत्मा की गतिविधियों पर तुलनात्मक चिन्तन करें और सही तौर पर अपनी श्रेणी को समझकर अपने आपको जागृत बनायें तथा गुण-सूचक जीवन-निर्माण की दिशा में इस तरह अग्रसर हों कि आप अपने जीवन के साथ अपनी सन्तान एवं अन्य व्यापक क्षेत्रों में गुण-मूलक प्रतिष्ठा को सर्वोच्च स्थान दें।

xqk/Mjr t bou dk fuelZk

बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा के रूप में आत्मा के जो ये सोपान बताये गये हैं, वे गुणाधारित जीवन का ही स्वरूप स्पष्ट करते हैं। आत्मिक गुणों की सुगन्ध ज्यों-ज्यों भरपूर बनती है, त्यों-त्यों बहिरात्मा बाहर के सारे व्यामोहों को छोड़कर अन्तरात्मा के निर्मल प्रकाश में रमण करना प्रारम्भ करती है तथा आत्मिक गुणों की चरम उन्नति एवं समृद्धि उस अन्तरात्मा को परमात्मा का स्वरूप प्रदान करती है। गुण-मूलक जीवन के निर्माण की यही दिशा होती है, जिसकी ओर बढ़कर मनुष्य अपने जीवन में सर्वोच्च सफलता प्राप्त कर सकता है।



सुख दो, सुख पाओ !

*Yù iñgftu rñ eq vkr: js-----***

परमात्मा की प्रार्थना से आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, क्योंकि भावोद्रेक से कर्मठता की गति तेज होती है। ये पंक्तियाँ भी आन्तरिक भावों को जगा रही हैं कि कर्म विपाक की दृष्टि से परमात्मा और संसारी आत्मा के बीच में जो अन्तर है, उसे दूर किया जाये। विचार करें कि क्या यह अन्तर प्रार्थना के माध्यम से दूर हो सकेगा ? क्या संसारी आत्मा का कर्म मैल धुल जायेगा ? यदि प्रार्थना करने—मात्र से आत्मा कर्मों से रहित बन जाती हो, तो यह मार्ग बड़ा सुगम हो जायेगा, प्रार्थना का उच्चारण—मात्र अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँचा सकता है।

अन्तःकरणपूर्वक यदि परमात्मा का स्मरण हो और हृदय में परमात्मा का निवास बन जाये, तो कर्म भार का अन्तर भी मिटाया जा सकता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने संकेत दिया है कि प्रार्थना जब वचन से हृदय की आन्तरिकता में पहुँचती है, तो परमात्म—स्वरूप का वहाँ अवस्थान बन सकता है। इस तरह यदि चैतन्य जाग जाये, तो निविडतम कर्मबंध भी शिथिल हो सकते हैं। इसको सुबोध बनाने

के लिए उन्होंने चन्दन, सर्प और मयूर का रूपक दिया है। चन्दन वृक्ष की सुगंध से बड़े-बड़े सर्प उससे लिपटे रहते हैं, जो हटाए नहीं हटते हैं, किन्तु मयूर की एक आवाज—मात्र सुनकर वे सर्प इधर—उधर तितर—बितर हो जाते हैं। सर्पों के जटिल बन्धन एकदम शिथिल हो जाते हैं।

इस रूपक को अब संसारी आत्मा के साथ घटित कीजिए। यह आत्मा भी अपनी अनन्त शक्तियों एवं अनन्त गुणों के कारण चन्दन वृक्ष की तरह सुवासित है, किन्तु इसके साथ भी घाती और अघाती कर्मरूप सर्प लिपट गये हैं। ये कर्म इस तरह संलग्न हैं कि हटाये नहीं हटते हैं। तो अब इन सर्पों को कोई हटा सकती है तो एक मयूर की आवाज। यह मयूर की आवाज क्या है ? यह मयूर की आवाज प्रभु को हृदयवर्ती बनाने की प्रार्थना ही तो है। प्रभु हृदय में बस जाये, तो आठों कर्मों के निविड़ कर्म—बंधन भी शिथिल होते चले जायेंगे और आत्मा की स्वाभाविक सुवास चहुँ ओर प्रसारित होने लगेगी।

i Hq dk ân; oriZ gkuk

प्रभु की प्रार्थना का उच्चारण तो सहज है, परन्तु उन्हें हृदयवर्ती बनाना कठिन है। कल्पना करें कि प्रभु हृदयवर्ती कैसे बन सकेंगे ?

एक ओर हम प्रभु को हृदयवर्ती बनाने की अभिलाषा रखते हैं और दूसरी ओर सैद्धांतिक स्थिति यह है कि सिद्ध प्रभु अपनी सिद्ध अवस्था में अविचल होते हैं, वे विचलित नहीं होते हैं। वहाँ से एक इंच के अनन्तवें भाग भी उन्हें कोई दूर खिसकाना चाहे, तो कतई नहीं खिसका सकता है, तो ऐसे सिद्ध परमात्मा, चाहे वे पद्मप्रभु हों या अनन्त भगवान, मानव के हृदयवर्ती कैसे हो सकते हैं ? मनुष्य के हृदय में वे निवास करें— इसका स्थूल अर्थ तो यही होगा कि वे अपने सिद्ध स्थल को छोड़कर मानव के हृदय में चले आयें। किन्तु इस

स्थूल अर्थ के अनुसार न तो भूतकाल में ऐसा हुआ है, न वर्तमान में हो रहा है तथा न भविष्यकाल में कभी भी ऐसा संभव होगा। उनको वहाँ से हटाकर अपने हृदय में लाने के लिए साधारण मनुष्य की शक्ति को छोड़कर स्वयं तीर्थंकर भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति को काम में ले लें, तब भी ऐसा बनाव नहीं बन सकता है।

प्रश्न है, तब कवि के इस कथन का क्या अर्थ है कि हे प्रभु! आप मेरे हृदयवर्ती बन जायें। क्या यह केवल उच्चारण अथवा जिह्वा का व्यापार—मात्र तो नहीं है ? परन्तु ऐसी बात नहीं है। इस कथन पर चिन्तन करने की आवश्यकता है। प्रार्थना की इस पंक्ति के बाह्य अर्थ को नहीं पकड़ना है, बल्कि इसके गूढार्थ में प्रवेश करना चाहिए। जब परम्परा के विचार से ही प्रार्थना की जाती है, तब उसका बाह्य उच्चारण—मात्र बन पड़ता है, किन्तु अन्तःकरण से जब प्रार्थना की जाती है, तो उसके गूढार्थ का प्रकाश प्रकट होता है। प्रभु का हृदयवर्ती होना— यह गूढार्थ की बात है।

ijekrek lo; a viuh vrek gS

प्रार्थना की पंक्तियाँ प्रार्थना के गूढार्थ के माध्यम से ही स्पष्ट हो सकती हैं। प्रभु के हृदयवर्ती होने का अर्थ है कि जो सिद्ध प्रभु हैं, उनका आदर्श हमारे समक्ष हो, तो उनके तुल्य हमारी अपनी जो आत्मा है— चेतना है, सत्, चित् और आनन्द रूपी चेतना— वह जागृत बनेगी। वह इसी शरीर पिंड में है, किन्तु कर्मों का मैल लग जाने से मलिन बनी हुई है और इसी कारण उसका चैतन्य दब गया है— सुषुप्त हो गया है। यदि सिद्ध प्रभु की प्रार्थना से यह बद्ध प्रभु जरा अंगड़ाई ले ले और प्रबुद्ध बन जाये, तो जो इस बद्ध प्रभु का जागरण होगा— सिद्ध प्रभु के तुल्य बनने की भावना और साधना जो प्रबल बनेगी— वह प्रभु का हृदयवर्ती बनना ही तो हुआ। अब आप समझ गये होंगे कि कौन से प्रभु को हृदयवर्ती बनाना है ? परमात्मा स्वयं अपनी आत्मा ही तो है और प्रार्थना उसकी लौ परमात्मा की

ओर लगा देती है तथा लौ लगी आत्मा को ही प्रभु का हृदयवर्ती होना मानिए।

यह समझ लीजिए कि जिन प्रभु को हृदय में बसाने की बात कही गयी, वे सिद्ध प्रभु नहीं, बल्कि अपने ही बद्ध प्रभु हैं। ये जब अपने स्वभाव में सन्नद्ध होकर हृदयवर्ती होने लगते हैं, तो फिर इनकी बद्ध अवस्था भी शिथिल बनने लगती है तथा इस आत्मा की गति परमात्मस्वरूप की ओर अग्रसर बनने लगती है। इस कारण इसी शरीर पिंड में रहनेवाले अपने ही भावी परमात्मा को हृदय में व्याप्त कर लीजिए कि मन, वाणी और कार्य का प्रत्येक रूप उस परमात्मा-आदर्श से ओतप्रोत बन जाये। उनका आदर्श जितना अधिक अपने सामने समुज्ज्वल रूप में मार्गदर्शन करता होगा, उतने ही विकार दूर ही रहेंगे तथा पूर्वार्जित कर्मों का भी क्षयोपशम प्रारंभ हो जायेगा। अपनी ही इस आत्मा को परमात्मा मानने के बाद जो विवेक जागृत होगा, वही 'सुख दो, सुख पाओ' की प्रक्रिया को मजबूत बना सकेगा। परमात्म-स्वरूप की लौ लग जाने के बाद वास्तव में सुख देने का विवेक तो प्रत्येक समय बना रहेगा, किन्तु सुख पाने की क्रिया साता वेदनीय कर्म का बंध होने से स्वतः होती रहेगी, उसकी वांछा नहीं की जायेगी।

fdlrqew l eL; k deZ{k dh gS

किन्तु आत्मा के परमात्मा बनने की मूल समस्या यह है कि आत्मा की शक्तियों को दबाये बैठे इन कर्मों का क्षय हो जाये। उसी की अपेक्षा से इस आत्मा का परमात्म-स्वरूप रहा हुआ है। अपनी आत्मा से इतर अन्य परमात्मा को हृदय में लाकर बसाने की बात मान ली, तो भ्रान्ति हो जायेगी। भ्रान्ति से कर्म-बन्धन कमजोर नहीं, मजबूत होते हैं। अतः कर्म-क्षय के ध्येय के लिए वीतराग देव के मार्ग को उसके सत्यार्थ में समझने की आवश्यकता है।

आज अधिकांश भाई-बहिन कल्पना करते हैं कि हम प्रभु को

स्मरण करते हैं, उनकी जय बोलते व भक्ति करते हैं, तो वे प्रभु यथा-समय आकर हमारे संकटों का मोचन करेंगे और हमें सुख-शांति देंगे। परन्तु उनकी यह भावना सम्यक् ज्ञानपूर्ण नहीं है। यह भावना तो परमुखापेक्षी बनाकर निष्क्रिय रखनेवाली है, किन्तु पद्म प्रभु की प्रार्थना जो है, वह अपने चैतन्य को पुरुषार्थ के पथ पर आरूढ़ करानेवाली है, क्योंकि चैतन्य की शुद्धता बनाने के लिए सबसे पहली अपेक्षा पुरुषार्थ को जगाने की ही होती है। पुरुषार्थ जगेगा, तो वह पहले अशुद्ध वृत्तियों के परिमार्जन की ओर लगेगा। बिना अशुद्ध वृत्तियों के परिमार्जन के आत्मा की शुद्धता को निखारने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसीलिए मूल समस्या कर्मक्षय की बतायी गयी है।

आत्मशुद्धि की प्रक्रिया में पहले उस आते हुए कर्म मैल को अवरूद्ध करना पड़ता है, जो प्रति समय अविवेकपूर्ण कार्यों के जरिये आत्मा के साथ लिपटता है। यह पुरुषार्थ का पहला पग होता है। फिर पहले जो कर्म बंधे हुए हैं, उनके उदय में आने पर उनका फल समभाव द्वारा सहन करते हुए उन कर्मों का क्षय करना होता है। पुरुषार्थ के ये दोनों पग जब संतुलित गति से बढ़ते जायें, तो आत्मा अधिकाधिक शुद्धता की ओर आगे बढ़ती जाती है। परमात्मा का चिन्तन अपनी आत्मा के रूप में करने की यह पूर्वभूमिका होगी। इसी भूमिका पर प्रार्थना के माध्यम से मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की शांति प्राप्त हो सकेगी। नया मैल जब नहीं आये और पुराना मैल धुलता जाये, तो उससे शांति ही मिलती है।

'kij' vls eu dh 'MUr ds fy,

शरीर और मन की शांति ही आत्म-विकास के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। यदि चिन्तन में विवेक और समभाव तथा कर्मठता में पुरुषार्थ मिश्रित रहे, तो यह शांति-लाभ सुलभ हो जाता है। अगर आप शारीरिक वेदना से युक्त हैं- शरीर से सम्बन्धित पीड़ाएँ आपको

उदय कहाँ से आयेगा ? सुख और साता आकाश से नहीं टपकेंगे या कि किसी जौहरी की दूकान पर नहीं मिलेंगे। उदय तभी होगा, जबकि पहले साता वेदनीय कर्म का बंध किया हुआ होगा और यह बंध तदनुकूल व्यवहार एवं आचरण के आधार पर ही संभव है। किन्तु यह सोचना भी जरूरी है कि साता वेदनीय के कर्म बाँधने के लिए पुरुषार्थ किस प्रयोजन से किया जाये ? यदि साता वेदनीय के उदय से शरीर स्वस्थ मिला, सुखदाय परिस्थितियाँ पैदा हुईं, तो क्या उसमें भोग की प्रवृत्ति जगायी जायेगी ? अगर ऐसा है, तो कहना पड़ेगा कि लक्ष्य स्पष्ट नहीं है। साता वेदनीय का प्रयोजन आत्मा को परमात्मा बनाने का सत्प्रयास माना जाना चाहिए। जो तेजस्वी चैतन्य शक्ति भीतर निष्क्रिय—सी सोयी पड़ी है, वह क्रियाशील बने तथा अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचे— यह लक्ष्य साता वेदनीय कर्म बंध के समय भी सामने रहना चाहिए। साता वेदनीय कर्म का बंध त्याग और विकास का समर्थ अवसर प्राप्त करने के लिए उपयुक्त माना जाना चाहिए और हम सुख देंगे, तो सुख मिलेगा। सुख पाने का जो ध्येय है, वह ध्येय ऐसा सुख पाने का है, जो सच्चा सुख होता है और निरन्तर अखंडित आनन्द देता है।

1 krk onuh; deZds fufeIk

सुख पाने के पहले सबको सब समय में सुख देना— यह साता वेदनीय कर्म का आधारभूत निमित्त माना गया है। सबको सुख अपनी ओर से किन वृत्तियों को धारण करके दिया जा सकता है— इसके सम्बन्ध में यह सूत्र— *1y oZHwoY; kuqEi k nkua-----*** मार्गदर्शन करता है। सभी प्राणियों पर अनुकम्पा—दया करने का भाव जिस के मन और मस्तिष्क में प्रत्येक समय बना रहता है, उसके निरन्तर साता वेदनीय कर्म का बंध होता रहता है। भावना पहले जब बलवती होगी, तो वचन और कार्य भी उसी दिशा में संचरित होंगे। किसी के कष्ट निवारण में कोई पूरी निष्ठा से कार्य करे और कार्य

करने की भावना रखे तो वह सदा उस अनुभाव में विचरण कर रहा है— ऐसा कहा जा सकेगा। कार्य में सफलता मिले या नहीं मिले, यह दूसरी बात है। भावना उसकी पहली शर्त मानी गयी है।

अब छद्मस्थ अवस्था में मानसिक संवेदनाओं एवं शारीरिक वेदनाओं के कारण उपयोग की ऐसी दशा नहीं रहती कि साधना में एकाग्र-चित्तता बनी रहे। शरीर यदि बलवान और मनोबल सुदृढ़ हो, तो आत्माभिमुखी प्रवृत्ति सुगठित बन सकती है। शास्त्रों में कहा गया है कि यदि एक अन्तर्मुहुर्त (अड़तालीस मिनिट) के लिए भी अत्यधिक उत्कृष्ट एवं समग्र रूप से एकाग्रता बन जाये, तो वह अवस्था भावी परिवर्तन के द्वार खोल देती है। बाद में एकाग्रता की न्यूनाधिकता भी आत्मा की उत्थानगामिता को अवरुद्ध नहीं कर सकेगी। इस एकाग्रता को लानेवाले शरीर और मन के बल को प्राप्त करना अनुकम्पा के आधार से ही संभव बनता है। अनुकम्पा करने का निमित्त साता वेदनीय कर्म के बंध का सबल निमित्त होता है।

अनुकम्पा और दया की वृत्ति जागने से स्व-पर दोनों का कल्याण होता है। जो दया करता है, वह अपने सामर्थ्य का सदुपयोग करता है और अपनी वृत्तियों को शुद्ध बनाता है, किन्तु जिसके प्रति दया की जाती हैं, उसके हृदय में भी उपकृत होने से श्रेष्ठ विचारों का प्रवाह उमड़ता है। जिस पर दया करने की आवश्यकता होती है, वह असाता वेदनीय के उदय से पीड़ित होता है, तो उस पर दया करने से वह उस पीड़ा से उत्पन्न होनेवाले आर्त विकारों से मुक्त बनता है। इस तरह दया करनेवाले के साता वेदनीय का बंध होता है, तो जिस पर दया की जाती है, उसका कष्ट सहानुभूति एवं हार्दिकता से हल्का पड़ जाने के कारण उसको भी असाता वेदनीय का बंध रुक जाता है। दया की वृत्ति इस प्रकार दोहरा लाभ पहुँचाती है। यही कारण है कि किसी भी शक्ति से निर्बल सदा सबल की अनुकम्पा का पात्र माना गया है।

वृद्धि क फलु & फलु इज ध त क स ।

एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि अनुकम्पा किन-किन पर की जा सकती है ? क्या अनुकम्पा केवल दीन-दुःखियों पर ही की जाये अथवा व्रतधारियों के प्रति भी क्या अनुकम्पा की जा सकती है ? इस विषय पर श्री ठाणांग सूत्र में वर्णन आया है, जहाँ अनुकम्पा को धर्मदान के अन्तर्पेटे में लिया गया है। उसमें जहाँ साधुवृत्ति का प्रसंग आया, वहाँ भी यही कहा गया है कि यदि साधु भी वेदना और ग्लानि के अनुभव से कराह रहा है, तो वह भी अनुकम्पा का पात्र होता है। उस समय उसकी सेवा में भी आत्मीय कम्पन का अनुभव होना चाहिए। एक साधु दूसरे साधु की— चाहे वह रोगी, तपस्वी या नवदीक्षित हो— जब इसी अनुभाव से सेवा करता है, तो वह साधु की साधु के प्रति अनुकम्पा होती है।

गृहस्थ वर्ग भी साधु के प्रति अनुकम्पा कर सकता है, किन्तु उसका रूप कुछ भिन्न होगा। यदि एक गृहस्थ की चेतना जागृत है और उसकी साधु में भक्ति है, तो वह अपने विवेक और साधु की मर्यादा के अनुरूप साधु की सेवा कर सकता है। यही साधु के प्रति अनुकम्पा का संकेत है। दूसरी ओर गृहस्थ गृहस्थों के प्रति सभी प्रकार की अनुकम्पा दिखा सकता है और उसको दिखानी चाहिए। सभी प्रकार से अभिप्राय श्रेष्ठ लक्ष्य, श्रेष्ठ संकल्प और श्रेष्ठ परिणाम से है। ऐसी अनुकम्पा को एक कर्तव्य का रूप दिया गया है। कल्पना करें कि एक गृहस्थ के पिता रुग्णावस्था में शय्याधीन हो रहे हैं और वेदना से कराह रहे हैं। बारहों महीने पुत्र उनकी निरन्तर सेवा कर रहा है। इसी प्रसंग में संवत्सरी का महापर्व आ जाता है। तब पुत्र सोचता है कि पिता की सेवा का कार्य मैंने चौबीसों घंटे किया है और आज संवत्सरी पर तो मुझे भी अपनी आत्म-शुद्धि का व्रताराधन करना चाहिए। वह यहाँ तक सोचने लग जाता है कि पिता तो गृहस्थ हैं और उनकी सेवा के सभी कार्य—पाप कार्य हैं और इनमें

मैं कब तक पड़ा रहूँगा। ऐसा सोचकर बिना पिता की सुव्यवस्था किये उनको असहाय अवस्था में छोड़कर यदि वह प्रतिपूर्ण पौषध व्रत ग्रहण करने के लिए भी चला जाता है, तो यह सत्य है कि वह परमात्मा को अपना हृदयवर्ती नहीं बना सकता है। कारण, उसके मन में जब अनुकम्पा नहीं है— आत्मीय भावना नहीं है, तो उसका हृदयासन परमात्म—स्वरूप के विराजमान होने के लिए उपयुक्त ही कहाँ बनता है ? पिता व्रती हैं, किन्तु असाता वेदनीयकर्म के उदय से पीड़ित हैं, जिनकी सेवा का एक—मात्र दायित्व उस एकाकी पुत्र पर है, तब उसे अनुकम्पा को प्रधान तथा अपने पौषध को गौण करके चलना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है, तो क्या उसके सम्यक्त्व में दोष नहीं आयेगा— यह किन्हीं की शंका हो सकती है। इसके उत्तर में मैं स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि यदि वह पुत्र अपने रुग्ण पिता की सेवा करता है, तो उसे कोई दोष नहीं आता है, बल्कि उसके सम्यक्त्व की अधिक पुष्टि ही होती है। इसके विपरीत यदि वह अपने पिता को असहाय अवस्था में छोड़कर चला जाता है, तो उसके मूलव्रत में अतिचार लगता है। अनुकम्पा को छोड़कर पौषधव्रत ग्रहण करने पर भी उसको असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। इसलिए जैसी अनुकम्पा समस्त भूत—प्राणियों पर की जानी चाहिए, वैसी ही अनुकम्पा की तरलता व्रतधारियों और शीलव्रती साधु—मुनिराजों के प्रति भी होनी चाहिए। दयावान पुरुष का यह हृदय का स्वभाव बन जाता है कि वह कहीं भी दुःख और पीड़ा को देखकर उसे अपने रूप में लेता हुआ प्रकम्पित होने लगता है। कोमलता का भाव ऐसा ही तरल होता है कि वह हृदय सरलता से पसीज जाता है। जिसका हृदय तरल और सरल है, मान लीजिए कि उसका सुख—साता का भविष्य भी स्पष्ट है और उसके आत्मविकास का मार्ग भी स्पष्ट है।

vuglEi k dk Q logkjd : i %nku

जहाँ हृदय में दया है, वहाँ दान की वृत्ति अवश्यंभावी है।

दया जब द्रवित होती है, तो वह व्यवहार को उसी दिशा में ले जाती है। यही व्यवहार सहायता के रूप में— दान के रूप में प्रकट होता है। जब दयावान का हृदय किसी के कष्ट को देखकर पिघलता है, तो वह उसकी सहायता यथायोग्य रीति से करना चाहता है। इस अपेक्षा से विद्या का दान भी होता है, औषधि या अन्य आवश्यक पदार्थों का दान भी हो सकता है और वह उस दान में अपनी भावना एवं शक्ति के अनुसार प्रवृत्त होता है।

इस बिन्दु पर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह किस को किस रूप में दान दे ? तो यह सोचने की आवश्यकता प्रस्तुत होती है कि यथारूप यथास्थान दान देने में कौन व्यक्ति किस प्रकार के दान का पात्र है ? जैसे एक व्यक्ति आपके सामने आ रहा है और वह आपसे वचन—दान के रूप में अनुकम्पा चाहता है और उसे आप समुचित सान्त्वना दे देते हैं, तो वह शांति का अनुभव कर सकता है, तो आपकी अनुकम्पा सार्थक बन सकती है। इससे आगे का क्रम यह आ सकता है कि उसको अपना कष्ट—निवारण करने के लिए आप के आर्थिक सहयोग की आवश्यकता हो, तो सम्पत्ति—दान का अवसर भी आ सकता है। शरीर बल के योगदान का भी प्रसंग हो सकता है, किन्तु इसमें एक ओर तो यह देखना चाहिए कि अपना दान बिल्कुल निःस्वार्थ हो तथा दूसरे वह दान लेनेवाला पात्र कैसा है— इसका भी पूरा विवेक होना चाहिए। कहीं भी काम करने लायक हट्टा—कट्टा जवान परिश्रम नहीं करके भीख माँगने लग जाये और पैसे इकट्ठे करके दुर्व्यसनों में लगाये— ऐसे व्यक्ति को दिया हुआ दान, अविवेकी दान कहलायेगा। यह अनुकम्पा की स्थिति का दान नहीं है।

nku eafoosl vlf ik-rk vho'; d

एक असहाय व्यक्ति को भी दान देना है, तब भी उसमें विवेक का होना अत्यावश्यक है। एक भूखे—नंगे को भोजन और वस्त्र की बजाय धन दे दिया और उसकी वृत्तियाँ नियंत्रित नहीं रहीं, तो वह

उसे गलत काम में खर्च कर दे— ऐसा हो सकता है, अतः दान यथापात्र एवं यथायोग्य रीति से देना चाहिए। विवेक एवं पात्रता दान के आवश्यक अंग माने गये हैं। देनेवाले की भावना श्रेष्ठ हो, फिर भी परिणाम की दृष्टि से विवेक रखने पर जिसको दान दिया जाता है, उसकी भी वृत्तियाँ शुद्धिकरण की दिशा में जागृत बनती हैं।

इस सम्बन्ध में स्वर्गीय आचार्यश्री एक रूपक फरमाया करते थे। अमेरिका में दो धनाढ्य मित्र साथ-साथ घूमने जा रहे थे। रास्ते में उन्हें दोनों पैरों से अपंग एक दुःखी व्यक्ति दयनीय अवस्था में दिखायी दिया। उसे देखकर दोनों के हृदय में एक साथ अनुकम्पा की भावना जागृत हुई। किन्तु दोनों की अनुकम्पा का व्यावहारिक रूप भिन्नता से प्रकट हुआ। एक मित्र ने एक हजार डालर उस अपंग के हाथ में रख दिये, तो दूसरे मित्र ने वैसा नहीं करके उसे अपनी कार में बिठाया और उसे चिकित्सालय की कर्मशाला में ले गया। वहाँ उसके लिए उसने कृत्रिम पैर लगाने की व्यवस्था की तथा एक 'मिल' में उस की स्थायी नौकरी लगवा दी। दोनों ने अनुकम्पा से कम्पित होकर सम्पत्ति का दान किया, किन्तु इन दोनों में विवेक का अन्तर था। एक का दान हजार डालर के रूप में अविवेकी था, क्योंकि उस धन को दुर्व्यसनों में खर्च करके वह फिर उसी दयनीय दशा में पड़ा रह सकता था, किन्तु दूसरे मित्र ने जिस विवेक के साथ उसकी सहायता की, उसने उस अपंग के जीवन की दिशा ही बदल दी। वह अपने श्रम से अर्जन करने की दृष्टि से सशक्त बनकर एक योग्य नागरिक बन गया।

अतः दान में विवेक और पात्रता का ध्यान अनुकम्पा करनेवाले के लिए सर्वोपरि होना चाहिए। विवेक और पात्रता के ध्यान के साथ ही साता वेदनीय के श्रेष्ठ कर्मों का बन्धन होता है। पात्र के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के दान दिये जा सकते हैं और इसका निर्णय स्वयं अनुकम्पा करनेवाले दानी के विवेक की आधारशिला पर किया जायेगा। श्रेष्ठ दान के कारण पुण्य बंध के सिवाय कर्मों की निर्जरा

भी होती है तथा मनुष्य जीवन के आयुष्य का बंध भी हो सकता है। सुमुख गाथापति ने श्रेष्ठ दान से ही मानव जीवन का आयुष्य बाँधा, क्योंकि उसका दान तीनों प्रकार से शुद्ध था।

दान की शुद्धता के ये तीन प्रकार होते हैं— पात्र शुद्धता, दाता शुद्धता और दान शुद्धता। दान देते समय विवेक यही कहलाता है कि उसमें यह तीनों प्रकार की शुद्धता वर्तमान हो।

nkul nkrk vkj ik= 'kj rk

सुमुख गाथापति ने साधु जी को जो भिक्षादान दिया, वह तीनों प्रकार से शुद्ध था, इसलिए उसकी सराहना की गयी। दान इसलिए शुद्ध था कि उन्होंने साधु के लेने योग्य दान दिया। यह नहीं कि भक्ति के आवेश में आकर विवेक को भूल गये हों। साधु की मर्यादा के निर्वाह में योग देना—यह श्रावक का भी कर्तव्य होता है। यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में साधु को आहार बहराने में मर्यादा का कम ध्यान रखा जाता है, जो साधु—जीवन की शुद्धता के लिए उपयुक्त नहीं है। उसके संयम में किसी भी प्रकार से बाधा पहुँचाये— ऐसे दान में भक्ति का आवेग भी हो तब भी वह घातक बन जाता है, क्योंकि वैसी भावना में अनुकम्पा का अनुभाव नहीं होता। इसलिए दाता तब शुद्ध होगा, जब मर्यादा और विवेक का उसको पूरा—पूरा ख्याल हो। भोजन के सिवाय वस्त्रादि साधु को देने में भी उसकी संयम—रक्षा के प्रति सबसे पहले सावधानी होनी चाहिए। गृहस्थ द्वारा दिये हुए दान की—मात्रा आदि ऐसी होनी चाहिए कि साधु द्वारा उसका दुरुपयोग करने का प्रसंग ही नहीं आये। दान और दाता इसके विवेक के साथ ही शुद्ध कहला सकेंगे।

अब जहाँ पात्र शुद्धता का प्रश्न है, वहाँ पहले स्वयं साधु के लिए विचारणीय है कि वह अपनी मर्यादा से अधिक तो लेने की इच्छा नहीं कर रहा है और यदि ऐसी इच्छा है, तो समझना चाहिए कि पात्र शुद्धि में कमी है। पात्र—शुद्धता का ध्यान दाता को भी रखना चाहिए।

यदि साधुत्व की रक्षा का भाव दाता में नहीं है, तो वह अनुकम्पाहीन होकर एक प्रकार से साधुत्व की हिंसा कर रहा है— ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि साधुत्व का प्राण पंच महाव्रत होते हैं और साधु पर अनुकम्पा करने का यह अर्थ होगा कि उसके प्राण की रक्षा हो— शरीर पिंड पर ही दाता की नजर न रहे। औषध—भेषज से शरीर पिंड की भी रक्षा आवश्यक है, लेकिन उस शरीर रक्षा का भी उद्देश्य साधुत्व की रक्षा ही होना चाहिए।

साधु को छः काया का पिता कहा गया है, तो उसका यह पितृत्व पंच महाव्रत की रक्षा में है। अतः जो दान और दाता साधु को आदर्श त्यागी बनाये रखें, वही शुद्ध होगा और जो साधु ऐसा समझकर दान ले, वहीं पात्र शुद्धता होगी। दान, दाता और पात्र की शुद्धता का विवेक यथास्थान यथायोग्य सभी जगह रहे—यह समुचित है।

nku i nīk k vā I kīq dh e; kāk

गृहस्थों द्वारा चलायी जानेवाली कई प्रकार की दान सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं लेकिन उनमें किसी भी तरह का योग साधु अपनी मर्यादा के अनुसार ही दे सकता है। उपकार का भी काम हो, किन्तु चन्दे—चिट्ठे में सच्चे साधु से सहयोग की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। मेरी वृत्ति भी आप स्पष्ट समझ लीजिए कि मैं इस प्रकार संस्थाओं के चन्दे—चिट्ठे के लिए अपने—आपको कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं समझता। संसारगत परोपकार के कामों में साधुओं को न उलझना चाहिए और न उलझाना चाहिए। ऐसा गृहस्थों के कार्य करने का क्षेत्र होता है और उसका भार उन्हें स्वतः ही उठाना चाहिए।

गृहस्थ लोग परस्पर के भाईचारे से भी कितना संगठित कार्य कर सकते हैं— इसके उदाहरण मुस्लिम समाज में देखे जा सकते हैं। स्वधर्मी को सहयोग देने की भावना अनुकम्पामय वात्सल्य की ही परिचायिका होती है। जैन समाज में इस वात्सल्य की दुरावस्था पर

ध्यान दिया जाना चाहिए और इस दिशा में सदाशय स्नेह को बल मिलना चाहिए।

Lo/ke/ks / k'k / nk'k / g; ks

आज जो अहिंसाधर्मी कहलानेवाले हैं, क्या उनमें परस्पर सदाशय सहयोग और स्नेह के सम्बन्ध हैं ? एक दूसरे के मिलने पर कुशल क्षेम पूछना या सहयोग का प्रस्ताव करना तो दूर रहा, शायद एक दूसरे का मुस्कुराकर अभिवादन करना और वचन से सांत्वना देना भी मुश्किल से ही बन पड़ता होगा। जो अपने आपको समर्थ समझते हैं, उनसे मैं पूछता हूँ कि स्वधर्मी सहयोग में रुचि नहीं रखने का उनके मन में कौन-सा गर्व भरा पड़ा है ? क्या चांदी के चंद टुकड़े मिल गये या बड़ा पद मिल गया, उससे स्वधर्मी भाई से स्नेह से बोलने का नाता भी टूट गया ? यह अतीव लज्जाजनक स्थिति है। जो ऐसी स्थिति में चल रहे हैं, क्या मैं उनको जैन भी कहूँ या कुछ और नाम दूँ ? समाज में आर्थिक अवस्था की दृष्टि से खड़ी की जानेवाली ऐसी असमानता की दीवार घातक प्रभाव डालेगी। स्वधर्मी भाई को उसकी आवश्यकता और अपनी शक्ति के अनुसार सहयोग देने की सदा तत्पर भावना रखनी चाहिए। स्वधर्म के स्नेह सूत्र की सृष्टि इसी से प्रकट होती है।

I q'k nk' / I q'k ikvks !

इस सारे विश्लेषण का सार तत्व यह है कि आप सबको जितना आत्मीय सुख पहुँचाओगे, उतना ही पुण्य रूप साता वेदनीय का आपके बंध होगा तथा तदनुसार सुख आपको प्राप्त होगा। साता वेदनीय कर्म के बंध एवं उदय से धर्माराधना के लिए शुभ संयोग प्राप्त होंगे और उन शुभ संयोगों के वातावरण में यदि आत्मा का परमात्म-स्वरूप तक पहुँचने का लक्ष्य निश्चित हो जाये, तो यथोचित विवेक एवं पुरुषार्थ की सहायता से आप परमात्मा को अवश्य ही हृदयवर्ती बना सकेंगे।



सर्वांगीण जीवन का विकास

*ॠत एत वलः ज्ञे दे हत स हखोर-----***

आत्मा और परमात्मा के बीच के अन्तर को दूर करने के प्रसंग से पद्म प्रभु की प्रार्थना को उसके गूढार्थ में समझने का यत्न किया जा रहा है। इस सत्प्रयास की आवश्यकता है कि संसार की भव्य आत्माएँ भी परमात्मा के तुल्य अपना स्वरूप बनालें, किन्तु जब वर्तमान समय में मानव जीवन के कार्य कलापों पर दृष्टि डालते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभी यह जीवन विविध प्रकार की उलझनों में फंसा हुआ है। ये उलझनें कई प्रकार के रूप बनाकर मानव मस्तिष्क को घेरे हुए हैं। ये उलझनें इस कारण तरह-तरह की भ्रान्तियाँ उत्पन्न करती हैं और इस प्रकार वस्तु-स्वरूप के सत्य निर्णय से मानव-मस्तिष्क को प्रतिबाधित करती हैं।

मानव जीवन की समस्त गतिविधियों के संचालन का केन्द्र-रूप मस्तिष्क होता है और जहाँ केन्द्र की दृष्टि से उसे जीवन को आत्मिक उन्नति के पथ पर आरूढ़ करना चाहिए, वहाँ वह केवल शरीर का प्रतिनिधित्व करके उससे सम्बन्धित भौतिक सुखों के क्षेत्र में ही अधिकतर कार्यरत रहता है। बुद्धि का कार्य क्षेत्र मुख्य रूप से

मस्तिष्क होता है और इस कारण मस्तिष्क ही विभिन्न प्रकार के विचारों का उद्गम स्थल होता है। पूर्व जन्म और वर्तमान जन्म के संस्कारों की छाप भी मस्तिष्क पर होती है और इसलिए समग्र जीवन के सर्वांगीण विकास के प्रेरक विचारों का सूत्रपात भी इसी मस्तिष्क के धरातल पर गम्भीर चिन्तन के रूप में होना चाहिए। संस्कार निर्माण के अनुरूप ही मस्तिष्क संस्कारित भी होता है और असंस्कारित भी। संस्कारित होने पर विचारों की दशा आत्मा को नियंत्रित एवं संयमित बनाती है और जीवन को लोकहित का साधन बनाती है, परन्तु इसके विपरीत असंस्कारित अवस्था जीवन को आत्म-पतन की गहराइयों तक पहुँचा देती है।

1 kfgd : i 1s1 Idlj&fuelZk ds iz kl

व्यक्तिगत उत्थान-पतन का बहुत कुछ आधार सामूहिक रूप से संस्कार निर्माण के प्रयासों पर भी निर्भर करता है। यह सामाजिक प्रयास होता है। महापुरुषों की चिन्तन-धाराएँ सामूहिक रूप से अपना प्रभाव डालती हैं और समाज में सर्वांगीण विकास का एक सामान्य धरातल बनाती हैं। इसी सामान्य धरातल को जन-मानस के समक्ष समुचित रूप में प्रस्तुत कर उसकी सही दशा में गति कराने के प्रचार-प्रसार के प्रयासों की भी निरन्तर अपेक्षा रहती है। आज ऐसे प्रयासों में भारी मन्दता देखने में आती है और यही कारण है कि आज मानव मस्तिष्क में साधारण रूप से वह संस्कारों के निर्माण का स्तर नहीं है, जिसके आधार पर आत्माभिमुखी प्रवृत्ति बनी रहती है।

आधुनिक युग में एक अपेक्षा से तो इस मस्तिष्क का काफी विकास हुआ है, जिसकी झलक वैज्ञानिक प्रगति के रूप में आप देखते हैं। किन्तु इस प्रगति का लक्ष्य जीवन के सर्वांगीण विकास की ओर नहीं है। यह प्रगति केवल एक भौतिक दिशा में चल रही है, जिसका आत्मिक विकास की दिशा पर कई बार विपरीत प्रभाव ही पड़ रहा है। यदि सर्वांगीण रूप से आत्मविकास के समस्त छोरों को

व्यवस्थित रूप देना है और इस लौकिक व्यवस्था को भी समता के आधार पर संतुलित बनाना है, तो इस मस्तिष्क की विचारगति को एक स्वस्थ मोड़ देना पड़ेगा।

fopkj xfr ea, d LoLFk ekWA

मानव मस्तिष्क की विचार गति में एक स्वस्थ मोड़ देने का प्रयास प्रार्थना के माध्यम से सरलतापूर्वक किया जा सकेगा। वीतराग देव की प्रार्थना वीतराग देव के प्रगति-पथ को—उनके आदर्शों को स्पष्ट करती है और इन्हीं आदर्शों का जब सार्वजनिक रूप से प्रचार-प्रसार किया जाये, तो सामूहिक चिन्तन-धारा को आत्मिक विकास की दिशा में मोड़ा जा सकेगा। आत्म विज्ञान की दृष्टि से वीतराग देव द्वारा प्रणीत जो उन्नायक सिद्धान्त हैं, वे किन्हीं भी अन्य सिद्धान्तों की तुलना में उच्चतर ही ठहरते हैं। इस कारण उन सिद्धान्तों की शरण में जाने से जीवन के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त बन जाता है।

चिन्तन प्रत्येक मस्तिष्क का स्वभाव है, किन्तु उसमें पूर्णता और परिपक्वता वही मस्तिष्क प्राप्त कर सकता है, जिसने आत्मिक विकास के शिखर को छू लिया हो। अपूर्ण मस्तिष्क से उभरी हुई धारा अपूर्ण होने से भ्रांतिपूर्ण भी हो सकती है और विकास-विरोधी भी। यही कारण है कि अपूर्ण विचार-धारा को पकड़कर यदि कोई चल पड़े, तो यह मुख्य आशंका रहती है कि वह कहीं अपना भविष्य ही अधर में न झुला दे। वीतराग देवों ने अपने जीवन में ज्ञान एवं साधना की पूर्णता प्राप्त की तथा उसके बाद उन्होंने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनका आश्रय लेने में अपने जीवन के प्रति एक निश्चिन्तता का भाव आ जाता है कि इन आदर्शों का पालन जितनी अधिक निष्ठा से हो सकेगा, उतनी ही लक्ष्य प्राप्ति की दूरी कम होती जायेगी। रास्ता सही है, तब प्रगति धीमी भी हुई, परन्तु भटकाव की दशा तो पैदा नहीं होगी।

जैन-दर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद एवं कर्म-सिद्धान्त आदि ऐसे पूर्ण एवं परिपक्व सिद्धान्त हैं, जिनकी छाया में यदि जन-मानस को जगाकर संस्कार-निर्माण का सामूहिक कार्य हाथ में लिया जाये, तो व्यक्तिगत एवं समाजगत दोनों प्रकार के जीवन-प्रवाह को विचार और आचार की दृष्टि से आत्माभिमुखी दिशा में स्वस्थ मोड़ दिया जा सकता है। आवश्यकता है कि प्रबुद्ध कार्यकर्ता इस ओर ध्यान दें तथा अपने जीवन का भोग देते हुए स्व-पर के सच्चे कल्याण-कार्य में अपने आपको नियोजित करें।

de&fl }kr U k dh ryk ij

कर्म-सिद्धान्त पर इन दिनों कुछ विवेचन किया जा रहा है। कर्म दो प्रकार के होते हैं- द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म। शुभाशुभ कार्य के फलस्वरूप द्रव्य-कर्म आत्मा के साथ संयुक्त होता है, तो भाव-कर्म आत्मा की शक्ति के साथ। ये आत्मा के वैभाविक परिणाम होते हैं। इन्हीं परिणामों का असर होता है कि आत्मा की भौतिक पदार्थों के संग्रह के प्रति आसक्ति भावना उग्र बनती है और उससे निरन्तर कर्म-बन्धन और उदय का प्रसंग पैदा होता है। बन्ध, उदय और फल की प्रक्रिया को कर्म-विपाक का नाम दिया गया है। जब तक राग-द्वेष की विषम वृत्तियों में यह जीवन डूबा रहता है, तब तक इस प्रक्रिया का चक्र घूमता रहता है, जिस का अन्त इस रूप में बताया गया है कि नवीन कर्मों के अवरोध एवं पूर्वाजित कर्मों के क्षय से ही किया जा सकता है। इसीलिए मानव जीवन में सामूहिक रूप से विचार एवं आचार को समता की नवीन दिशा देने से इस चक्र को शिथिल एवं अन्ततः समाप्त किया जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त को न्याय की तुला पर रखने की बात में इसलिए कह रहा हूँ कि यह आत्मा के भावी को पराश्रित नहीं बनाता। आत्मा स्वाश्रित होती है, अपने भाग्य की स्वयं निर्माता होती है तथा जैसा स्वयं करती है, वैसा फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता

है। इस भुगतान में कोई पक्षपात नहीं होता। इस सिद्धान्त की इस कारण मूल प्रेरणा यह प्रस्फुटित होती है कि आत्मा सुखाभासों में सोयेगी, तो उसे अपनी गफलत का कष्ट भुगतना पड़ेगा और अगर पुरुषार्थ एवं विवेक के साथ जागृत बनेगी, तो उसका विकास के रूप में सुखद फल भी उसे प्राप्त हो सकेगा। जैसा बोवोगे वैसा काटोगे, जैसा करोगे, वैसा भरोगे— यह निष्पक्ष और अप्रभावित कर्म—सिद्धान्त का रूप है। अब इसकी सहायता से जितनी आत्म—स्वरूप की वास्तविकता प्रकट की जा सकेगी, कर्मक्षय का संकल्प भी उससे पुष्ट और परिपक्व बन सकेगा।

eflr"d dks /klyh djks vks Hkls

सर्वांगीण जीवन के विकास की दिशा में इस भूमिका के साथ गहन चिन्तन की आवश्यकता है। इसके लिए एक और तो मस्तिष्क में जो दुनियावी चीजों का अम्बार भरा हुआ है, उसे खाली कर दो और फिर उसे आत्मिक अनुभूतियों से भरो। भौतिक प्राप्तियों की वितृष्णा सम्बन्धी जितने विचार इस मस्तिष्क में रात—दिन उथल—पुथल हो रहे हैं, उन्हें एक बार पूरे तौर पर निकाल देने की जरूरत है, क्योंकि इन विचारों ने न सिर्फ व्यक्ति के जीवन को विषम एवं विश्रृंखल बना रखा है, बल्कि सारे सामाजिक जीवन में भी इन विचारों की क्रियान्विति से विषमता की विषैली हवा बह रही है, जिसने शोषण, दमन और उत्पीड़न का कटुतम वातावरण चारों ओर फैला दिया है।

मस्तिष्क में से इस कारण जितने ये विषम विचार बाहर निकल जायेंगे, उतना ही समभाव प्रबल बनेगा, जो आत्मीय विचारों से मानव—जीवन को ओतप्रोत बनाकर समता—समाज का निर्माण कर सकेगा। ये विषम विचार मस्तिष्क को किस प्रकार प्रपीड़ित बनाते हैं— इस सम्बन्ध में एक रूपक से इसकी बारीकी को समझिए। एक कमरा विविध प्रकार के सजावटी सामान से सजा हुआ है और वह सजावट इतनी घनी है कि कमरे की दशा पर ध्यान ही नहीं जाता

है। कमरा गौण और सजावट रूप या अपरूप— दोनों मुख्य बन जाती है। अब यदि कमरे को ही वास्तविक रूप से देखना और परखना है, तो जरूरी यह होगा कि एक—एक करके सारा सामान कमरे से बाहर निकाल दो। उस के बाद खाली कमरा सिर्फ कमरा रह जायेगा, तब जो दिखेगा, वह कमरे का असली रूप होगा। इसी तरह मस्तिष्क में से सारे दुनियावी विचारों और तर्क—वितर्कों को बाहर निकाल देने के बाद आत्मा का मूल रूप प्रकाशित होगा। तब उसमें वे विचार उभरकर ऊपर आयेंगे, जो उस आत्मिक रूप को सुघड़ एवं शुद्ध बनानेवाले होंगे। तब तर्क से ऊपर भावना का स्थान होगा, आडम्बर के स्थान पर सच्ची साधना जन्म लेगी।

मस्तिष्क को खाली करने और भरने का यही तात्पर्य है कि उसकी विचार—गति को परिवर्तन की दिशा दो—विचारों के विचरण क्षेत्र को बदल दो। यह परिवर्तन आत्मा की शक्ति को उभारनेवाला होना चाहिए। इस परिवर्तन का अभिप्राय विचारशून्यता पैदा करना नहीं, ऊर्ध्वगामी वैचारिकता को प्रोत्साहन देना है, क्योंकि आत्मा कभी भी विचारों से शून्य नहीं बनती— वैचारिकता है, वहीं तो चेतना होती है। विचार आत्मा का गुण है तथा गुण—गुणी का अभेद्य सम्बन्ध है। इसे तादात्म्य सम्बन्ध भी कह सकते हैं। जहाँ किसी तत्व को किसी तत्व से बाहर निकाल सकने की बात होती है, उस सम्बन्ध को संयोग सम्बन्ध कहा जाता है। संयोग सम्बन्ध में जिनका सम्बन्ध जुड़ाया गया है, उनको अलग भी किया जा सकता है, किन्तु तादात्म्य संबंध में अलगाव नहीं हो सकता है। विचार शक्ति आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध में होती है, अतः मस्तिष्क को खाली करो और भरो — का अर्थ विचार परिवर्तन के रूप में ही लेने की आवश्यकता है।

रत्नकः । राक द्क लोः ।

विचार आत्मा की शक्ति है और उसका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। शक्ति तेज या मन्द हो सकती है, किन्तु

समाप्त नहीं होती, क्योंकि वह आत्मा का गुण है तथा गुण और गुणी के सम्बन्ध में विच्छेद नहीं होता। इसको ठीक से समझने के लिए सूर्य और सूर्य की किरणों की उपमा दी जा सकती है। सूर्य और सूर्य की किरणों का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। सूर्य से सूर्य की किरणें अलग नहीं की जा सकती हैं। किरणें सूर्य की तद्रूप होती हैं। प्रकाश से रिक्त सूर्य का अस्तित्व नहीं होता, तो जहाँ सूर्य है, वहाँ किरणों का अस्तित्व होगा ही। उसी प्रकार चिन्तन, विचार या इच्छा शक्ति आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध में रही हुई होती है। वस्तुतः चिंतन ही तो चेतना है और चिंतनहीन आत्मशून्यता का ही तो रूप माना जाता है।

हाँ, सूर्य की किरणें जिस वातावरण को छूती हैं, वैसा रंग और रूप वे अपने में अवश्य भर लेती हैं। उदयाचल पर्वत की लालिमा को जब वे किरणें प्रभात काल में अपने अंक में भर लेती हैं, तो वे सर्वत्र अरुणिम बन जाती हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क के विचार भी जिन संस्कारों के रंग-ढंग में ढलते हैं, उन्हीं का रूप-स्वरूप भी वे पकड़ लेते हैं। इसीलिए कहा गया है कि विचार आत्मा का गुण है, तादात्म्य संबंध से जुड़ा हुआ है, लेकिन जैसे संस्कारों का धरातल मस्तिष्क को मिलेगा, वैसा ही स्वरूप विचार-गति का बनता जायेगा। अतः समस्या विचारों के संशोधन करने की है, उनमें यथोचित परिवर्तन लाकर उन्हें विकासोन्मुखी बनाने की है।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी सांसारिक पदार्थों के सम्पर्क में आ जाने से रंग-बिरंगा बना हुआ है। शुद्ध श्वेत वर्ण चितकबरा बन गया है और आत्म-स्वरूप भ्रान्त-सा दिखायी देता है। भ्रान्त इस कारण कि मूल-स्वरूप के प्रति तो विस्मृति आ गयी है और साधारण रूप से मानव यही समझने लग गया है यानि शरीर-सुख ही सब कुछ है। शुद्ध स्वरूप आत्मा का गुण है और वह आत्मा से तादात्म्य रूप से सम्बन्धित है, किन्तु उसके साथ जो शुद्धता संलग्न हो गयी है, उसे परिमार्जित करना आवश्यक है।

v'lo: i dk ifjekt Z

इस अशुद्ध स्वरूप का परिमार्जन दृढ़ निष्ठा के साथ किया जाना चाहिए और इस विश्वास के साथ कि आत्मा अनन्त शक्तियों की त्रिकाल दृष्टा है। ये शक्तियाँ पर-पदार्थ से अनुरंजित हो जाती हैं, किन्तु ज्यों ही उनकी अशुद्धता का परिमार्जन कर दिया जाये, तो वे सूर्य की किरणों की तरह प्रकाशमान हो उठती हैं। तभी आत्मा का वास्तविक रूप सत्-चित् और आनन्द के रूप में प्रकट होता है।

इस उद्देश्य के लिए दो बातों की जरूरत होती है। एक तो मस्तिष्क में उभरनेवाले विचार-प्रवाह को संशोधन और परिमार्जन की नयी दिशा देनी होगी, तो दूसरे साता-वेदनीय के बंध और उदय की आवश्यकता होगी, जिससे विचार और आचार की सहज ही में उत्कृष्टता बन सके। चलते दोनों है- एक जो डामर की सड़क पर चलता है और दूसरा जो ऊबड़-खाबड़ कंटीले मार्ग पर, किन्तु पहला सहज ही में तीव्र गति से आगे बढ़ता है और दूसरा जब तक बहुत ही मजबूत इरादे का नहीं हो, तो रुक जाता है- न भी रुके, तो उसकी चाल धीमी और कष्टयुक्त रहती है। इसी तरह असाता वेदनीय और साता-वेदनीय का रूपक होता है। साता-वेदनीय गति के लिए डामर की सड़क बना देता है, जिस पर चाल तेजी से और सुख से हो सकती है। इस तथ्य पर कुछ सोचा जा चुका है कि साता-वेदनीय कर्म को बाँधने के उपाय क्या है और सर्व प्राणियों पर अनुकम्पा रखने एवं जरूरतमन्द को उदार मन से दान देने के लिए मनुष्य को अपने आचरण में क्या-क्या परिवर्तन लाने होंगे ?

इसी अनुक्रम में सराग-संयम का प्रसंग आया है। आत्मा समभाव में रमण करने लगे-उस स्थिति को संयम कहते हैं। यह वृत्ति उच्चतर बनती हुई साधु अवस्था तक पहुँचती है और इसकी परिपूर्ण अवस्था अरिहंत भगवान की होती है। किन्तु साधु बन जाने पर भी अपनी दुर्बलताओं के साथ वह देश-संयम से पूर्ण संयम की ओर बढ़

साधुजन जो इस कार्य में व्यावहारिक रूप से योग नहीं देते हैं, उन्हें भी इस तरफ आगे बढ़ना चाहिए। उनको मेरा यही उत्तर होता है कि जिस संयम का आप लोग व्यापक रूप से प्रचार और प्रसार चाहते हैं, तो उसमें हमारा सहयोग क्या इस रूप में लेना चाहते हैं कि हम उसी संयम को रद्दी की टोकरी में फेंक दें। जिसका आपको प्रचार करना हो, उसको स्टॉक में रखना जरूरी है तथा उसका नमूना बताकर ही उस चीज का सही प्रचार किया जा सकता है। उस चीज में धूला मिला दें, तो उसे न तो कोई खरीदेगा और न उसका प्रचार कामयाब होगा।

ipljd dk dke vko"dljd ugha djrk

साधारण रूप से प्रचारक का काम एक आविष्कारक नहीं कर सकता है। जिस वस्तु का जो आविष्कारक है— उत्पादक है, वह उसका ज्यादा से ज्यादा उत्पादन कर सकता है— उसमें नयी—नयी पद्धतियाँ तैयार कर सकता है, लेकिन प्रचार व प्रसार का काम दूसरों को ही करना पड़ेगा। इसी तरह साधु समाज अगर प्रचार—प्रसार के कार्य में अपने ध्यान को केन्द्रित बना ले, तो उसके मन और मस्तिष्क की शक्ति जो संयम के शुद्ध स्वरूप का निर्माण करती है, वह अन्य दिशा में विभाजित हो जाने से उतनी प्रखर बनी नहीं रह सकेगी। अतः निर्माण और प्रचार के काम अलग—अलग ही प्रभावोत्पादक बने रह सकेंगे।

अतः वीतराग देव के सिद्धान्तों के प्रसार—प्रचार का कार्य तो अपने सांसारिक कार्यों में से कुछ समय निकालकर श्रावकवर्ग ही सम्हाले अथवा स्व. आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा. की वीर—योजना अमल में लायी जाये अथवा स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. के सुझाव के अनुसार एक ब्रह्मचारी वर्ग की इस हेतु स्थापना की जा सकती है। इस सुझाव पर योजनाबद्ध विधि से कार्यान्वयन किया जाये, तो प्रचार—प्रसार की प्रभावशाली रूपरेखा बनायी जा सकती है।

yxu vlr%dj. k dh gknh plfg,

आप जितने भी भाई-बहिन वीतराग वाणी को पसन्द करते हैं, किन्तु वह पसन्दगी ऊपरी ज्यादा दिखायी देती है और अन्तःकरण की कम। अतःकरण की लगन के बिना बाहर का आडम्बर विशेष महत्व नहीं रखता। श्रावक वर्ग में से ऐसे कई निवृत्त व्यक्ति निकल सकते हैं, जिनकी गृहस्थियों का भार उनके बेटे-पोते सम्हाल रहे हैं या वे उन्हें सम्हलाकर स्वतंत्र बन सकते हैं, जो प्रचार-प्रसार का काम अपने हाथों में ले सकते हैं तथा अपने ज्ञान व अनुभव के सहारे उसे विस्तृत और व्यापक बना सकते हैं।

परन्तु ऐसा बने कब ? जब उनकी राग-दशा मन्दी बने। व्यर्थ में वे कुटुम्ब परिवार के राग को पकड़कर बैठे रहते हैं, किन्तु उससे छुटकारा नहीं पाते हैं। कहते हैं कि परिवारवालों ने उनको पकड़ रखा है, व्यापार धंधों ने उनको पकड़ रखा है, किन्तु असल में यह पकड़ अपनी ही तृष्णा और राग-वृत्ति की होती है, वरना त्यागी को कौन-सी जकड़ पकड़कर रख सकती है ? यह आत्मा ही अपने स्वरूप को भूलकर यह मान बैठती है कि दुनिया की बातों ने उसको पकड़ रखा है। आत्मा ही अपनत्व को भूलकर पर-पदार्थों की छाया में चलती रहती है।

असल बात है अन्तःकरण की लगन की। धर्म की बातें मुँह से तो बहुत दुहराते रहते हैं, मगर उन्हें आचरण में लाने के लिए चरण आगे नहीं बढ़ते- यही खेदजनक स्थिति है। ऐसे लोगों का प्रचारक वर्ग बनाया जाये, जिसमें रुचिपूर्वक किसी भी आयुवर्ग का व्यक्ति प्रवेश ले सकता है, कारण कि वह इस वर्ग के कार्य से थक जाये और अधिक धर्मानुरागी बनना चाहे, तो साधु-जीवन की ओर मुड़ जाये तथा नीचे की स्थिति की ओर भी जाये, तब भी उसके मनोभावों की बात है। इस प्रचारक वर्ग के लिए तीनों दरवाजें खुले रह सकेंगे। यह वर्ग यदि निष्ठा के साथ इस काम में जुट जाये, तो कोई कारण

नहीं कि व्यापक रूप से एक नये वातावरण का निर्माण न हो। अतः अन्तःकरण की गहरी लगन के साथ इस शुभ कार्य का श्रीगणेश करने की आवश्यकता है।

वर्तमान की स्थिति

सत्य-धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य वास्तव में आत्म-भोग देने का क्षेत्र है। गृहस्थ में रहते हुए भी स्व-पर कल्याण में कुछ समय और श्रम दे सकें, तो इससे त्याग-वृत्ति का ही विकास होगा। यह श्रावकों का ही काम नहीं है, अपने क्षेत्र में श्राविकाओं का भी उतने ही दायित्व का कार्य है। कुछ जागरूक बहिनें आगे आयी हैं और यदि वे दृढ़ता से कार्य करती रहीं, तो वे अपने ही बल पर समाज में क्रान्ति भी ला सकेंगी। आत्म बल एवं साहस के साथ जो भी कार्य उठाया जायेगा, उसमें सफलता अवश्य प्राप्त हो सकेगी।

मानव-जीवन की साधारण सार्थकता के अनुसार भी सबको अपनी यथाशक्ति एवं यथायोग्यता मानसिक, वाचिक, बौद्धिक आदि शक्तियों को समाज सेवा हेतु भी अर्पित करना चाहिए। बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत इसी तरह किया जा सकेगा।

लोक के विकास की दिशा

जीवन का सर्वांगीण विकास और सर्वांगीण जीवन का विकास—इन दोनों लक्ष्यों के प्रति साथ-साथ गति की आवश्यकता है। जीवन के सर्वांगीण विकास का अर्थ है कि व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों का समान रूप से विकास हो, तो सर्वांगीण जीवन का अभिप्राय सभी प्रकार के जीवन यानि समाज-गत विकास की उपलब्धि है। प्रचार-प्रसार के जिस शुभ कार्य का उल्लेख किया गया है, उसका मुख्य उपयोग ही सामाजिक जीवन की जागृति में निहित है। जीवन के समुन्नत मार्ग को अधिक-से-अधिक लोग जाने तथा उस पर चलने के लिए प्रेरित हों— यह प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य

होना चाहिए, क्योंकि उसकी प्रबुद्धता यदि अपने साथियों और आस-पास के वातावरण को जगाने के काम न आ सकी, तो उसका सामूहिक लाभ ही क्या ? अतः प्रचार-प्रसार के कार्य में तन, मन, धन की शक्तियाँ लगाकर कार्य किया जायेगा, तो अपनी आत्मा का उत्थान होगा, साता वेदनीय कर्म का बंध होगा तथा सामाजिक जीवन में भी नयी जागृति जन्म ले सकेगी।

सर्वांगीण जीवन के विकास की दृष्टि से कुछ नया संकल्प बन सके तथा उसकी पूर्ति के लिए विवेक और पुरुषार्थ जुट सके— इस हेतु अन्तःकरणपूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करें।



संघ-शक्ति का महात्म्य

*Myù iHqft u rā eq vkr# js-----***

यह पद्म प्रभु के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण अपनी ही आन्तरिक शक्ति को जगाने का पुण्य कार्य है। परमात्मा के तुल्य शक्ति से सम्पन्न यह आत्मा इस विश्व के अन्दर सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। इस तत्व की जागृति पर ही प्रगति की समूची आधार-शिला टिकी हुई है। आत्मा को जागृत करने के लिए इसके सजातीय तत्व का सम्पादन किया जाना जरूरी है। इस आत्मा का यदि विश्व में कोई सजातीय तत्व है, तो वह परमात्मा ही है।

परमात्मा की परिपूर्ण विकसित अवस्था को प्राप्त करना ही इस आत्मा का ध्येय है। किन्तु इस ध्येय की ओर गति तब ही की जा सकती है, जब आत्मा स्वयं अपने स्वरूप को समझकर अपने व परमात्मा के बीच की दूरी को समाप्त करने की चेष्टा करे। परमात्मा का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप— ये दोनों स्वरूप समझने की दृष्टि से संसार में गहनतम हैं। इसी कारण इन स्वरूपों का विश्लेषण करना सहज नहीं होता है। इन्हें समझने के लिए यदि यथाशक्ति प्रयास किया जाये, तो मनुष्य धीरे-धीरे अपने अंतःकरण में इस चैतन्य देव को जागृत कर सकता है।

परन्तु इस चैतन्य देव को इस विराट् विश्व के अन्दर जागृत कर पाना साधारण रूप से सामान्य जन की क्षमता में नहीं होता है, कारण कि इसके लिए साधना करने की आवश्यकता होती है। सभी प्रकार की निवृत्ति में अग्रसर बनकर ही साधक सफलतापूर्वक इस जागृति-पथ पर गति कर सकता है।

l äk & 'Wä dh fo 'k'rk

इस कठिन पथ पर जब सामान्य-जन से एकाकी चलने की क्षमता नहीं होती है, तो वैसी क्षमता बनाने का यही उपाय हो सकता है कि जिन विशिष्ट जनों ने अपने ज्ञान एवं अनुभव की उत्कृष्टता के बाद जो मार्ग बताया है, उस पर सबको साथ लेकर चलने की परिपाटी बनायी जाये। साधना से विशिष्ट शक्ति प्राप्त करने के बाद ही कैवल्य ज्ञान के रूप में तीर्थकर आत्म-परमात्म स्वरूप का स्वयं दर्शन करते हैं तथा उनकी सूक्ष्मता का विश्लेषण वे भव्य प्राणियों के लिए प्रस्तुत करते हैं। इसी विश्लेषण का अनुकरण संघ-शक्ति के साथ में इस आत्म-तत्व को जगाने का प्रबल कारण बन सकता है।

तीर्थकर देवों ने सम्यक्-ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की उपलब्धि के जो निर्देश दिये हैं, उन निर्देशों का सामान्य साधक के लिए एकाकी रूप से पालन कर सकना सरल नहीं होता है। अकेले चलने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है तथा कई बार ऐसा हो सकता है कि वे कठिनाइयाँ साधक को अपनी उन्नति से नीचे गिरा दें। इस कारण उन निर्देशों को अपने जीवन में साकार रूप प्रदान करने के लिए सबको साथ लेकर चलने की प्रवृत्ति अधिक फलदायी बन सकती है। संघ-शक्ति की यही विशेषता होती है कि वह पराक्रम को सामूहिक रूप देकर उसे सभी के लिए साध्य बना सकती है।

prfoZk l äk dk fuekZk

यही कारण है कि तीर्थकरों ने कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति होते ही चार तीर्थों की स्थापना की, बल्कि उनका नाम तीर्थकर ही इसलिए

कहा जाता है कि वे तीर्थों को बनाते हैं। तीर्थों को बनाने का अर्थ है कि वे संघ का निर्माण करते हैं। यह संघ चतुर्विध इसलिए कहा गया है कि इसके चार अंग होते हैं— साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इन चारों का समूह ही संघ होता है और संघ तीर्थ रूप होता है, इसी कारण संघ के सभी अंगों को भी तीर्थ माना गया है और इनके निर्माता तीर्थकर कहलाते हैं।

तीर्थकरों ने इस संघ के माध्यम से जो निर्देश दिये हैं, इस विषम स्थिति में यदि संघ—बद्ध होकर उनका यथोचित पालन किया जाये, तो मनुष्य समतामय धरातल पर न केवल अपने आपको ही आरूढ़ कर सकता है, बल्कि सामूहिक शक्ति को सजग बनाकर सारे समाज को भी उस पर आरूढ़ बना सकता है। यह चतुर्विध संघ एक प्रकार से आध्यात्मिक दृष्टि का संघ है, जिसे वीतराग प्रभु का शासन भी कह सकते हैं। ऐसे संघ की शक्ति का जो संचय किया जाता है, वह संचय मानव—मात्र के ही क्या, प्राणी—मात्र के कल्याण के लिए होता है। इस संघ के अन्दर जिस प्रकार के नैतिक एवं समदृष्टिवाले निर्देश हैं, वे आध्यात्मिक जीवन की ज्योति को प्रज्ज्वलित बनानेवाले हैं तथा इसी प्रकाश से वे जन—जन के मानस को आलोकित करनेवाले हैं।

T: kīr pīrōZk l āk ds l aBu dh

प्रत्येक मानव अपने अन्तःकरण में व्याप्त अंधकार को इस चतुर्विध संघ की ज्योति के माध्यम से दूर कर सकता है तथा आत्म—जागृति की लक्ष्य पूर्ति के हित अपनी साधना को सशक्त बना सकता है। इस संघ में सभी तरह के लोग सम्मिलित हो सकते हैं, जो अपनी—अपनी योग्यता के अनुसार कार्य संचालन करते हैं। वे सभी अपनी—अपनी योग्यता के आधार पर संगठन के अभिन्न अंग बन जाते हैं।

संगठन की शक्ति के आधार पर कौन-सा श्रेष्ठ लक्ष्य पूरा नहीं किया जा सकता है ? इस चतुर्विध संघ के बल पर सारे विश्व में समता के विचार और व्यवहार का त्वरित प्रचार एवं प्रसार किया जा सकता है। आप इस संघ संगठन के माहात्म्य को समझकर जीवन के क्षेत्र में अपनी-अपनी स्थिति के साथ यदि उसे सम्यक् प्रकार से जोड़ने का प्रयास करें, तो संघ की सार्थक वास्तविकता भी प्रकाशित हो सकेगी तथा संघ आत्म-जागृति के कठिन कार्य को भी पुरुषार्थमय बनाने की प्रेरणा दे सकेगा।

चतुर्विध संघ के संगठन की यह ज्योति पिछले लगभग अढ़ाई हजार वर्ष से दैदीप्यमान हो रही है। काल-प्रवाह से संगठन की शक्ति में उतार-चढ़ाव आये हैं तथा आज यह अनुभव किया जा सकता है कि वह शक्ति काफी शिथिल बनती जा रही है। किन्तु यदि आज भी जितने साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाएँ विद्यमान हैं तथा वे भव्य आत्माएँ जो अपने जीवन का उत्सर्ग करने के लिए तत्पर हो रही हैं, वे अपने मन-भेद को एक और रखकर समन्वयात्मक दृष्टि से अपने जीवन एवं संघ की स्थिति को सन्तुलित तथा सुदृढ़ बनाने का प्रयास करें, तो संघ अपनी नियमित प्रगति के साथ अपनी ज्योति को अधिकाधिक प्रकाशित कर सकेगा। संघ एक-एक तार को जोड़कर समूह को इस तरह उभारता है कि दीपक से दीपक जलाया जा सके। एक-एक के सहयोग से दूसरों को सामूहिक सम्बल देने का कार्य संघ-शक्ति के सहयोग से ही संभव बन सकता है।

l āk l t h fiM ds l eku

आप सोचते होंगे कि यह ऐसा संघ है- संगठन है- समूह है, जहाँ केवल आध्यात्मिक साधना के लिए साधु बनने का कार्य-मात्र होता है, किन्तु संघ का कार्य चहुँमुखी होता है। यह संघ एक दूसरे की हमदर्दी के साथ, एक दूसरे के साथ स्नेह एवं सहयोग का ताँता जोड़ते हुए आत्मीय सम्बन्धों से चलने का निर्देश देता है। यह स्नेह

और सहयोग का आत्मीय सम्बन्ध संगठन की गति को आत्मीय जागृति की ओर मोड़ता है। संघ शक्ति के साथ चलना व्यक्ति की शक्ति को अभिवृद्ध बना देता है। साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप यह चतुर्विध संघ एक प्रकार से सबको संगठन के अंतर्गत ले आता है। प्रत्येक व्यक्ति संघ की इकाई है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य कर सकता है और जीवन को समुन्नत बना सकता है।

संघ की स्थिति की तुलना सजीव पिंड के साथ की जा सकती है। इस शरीर के ढाँचे में जो कुछ भी दिखायी दे रहा है, उनमें एक तत्व सामान्य है। पाँच इन्द्रियों का समूह इस शरीर-पिंड के साथ रहा हुआ है और इनकी पृष्ठ-भूमिका में मन और आत्म-तत्व का संचालन होता है। आत्म-तत्व अपने प्रकाश के साथ इस शरीर के संघ को व्यवस्थित रूप से चला रहा है। इस शरीर रूपी संघ की व्यवस्था को देखकर यदि भगवान महावीर के चतुर्विध संघ को संचालित किया जाये, तो वीतराग देव की वाणी का प्रचार और प्रसार एवं आत्म-जागृति का कार्य संतोषजनक रीति से किया जा सकता है। शरीर के विभिन्न अंग और उपांग जब समन्वय और सहयोग के साथ संगठित अवस्था में कार्य करते हैं, तो उस कार्य पद्धति से संघ के संगठन की प्रेरणा की जा सकती है।

1 eib; vlt 1 eHto dk 1 plj

संघ की संचालन पद्धति को समझने के लिए इस शरीर के ढाँचे को समझ लीजिए। इसमें सभी प्रकार के अंग होते हैं। जहाँ विचार करने का प्रश्न है, तो मस्तिष्क सभी प्रकार के विचारों एवं विविध कलाओं का केंद्र होता है। इस अंग में गति, विगति या प्रगति की क्षमता होती है। शरीर में जहाँ ऊपर मस्तिष्क है, वहाँ पेट का हिस्सा भी जुड़ा हुआ होता है। इस की मदद करने के लिए दोनों भुजाएँ इसके साथ हैं। फिर देखिए, नीचे के हिस्से में कौन हैं ? नीचे

के हिस्से में पैर हैं, जो सारे शरीर को अपने आधार पर टिकाये रखते हैं।

इसी रूप में आप देखिए इस संघ की व्यवस्था को। इस शरीर के अंदर रहनेवाले ये जितने भी महत्वपूर्ण अंग हैं, इनमें समन्वय और समभाव का कैसा संचार है ? ये अंग किन-किन की अपेक्षा रखकर चल रहे हैं ? सामान्यतया सुचारु संचालन की अवस्था में इनमें किसी विकृति का विशेष प्रसार नहीं होता है। एक व्यक्ति अपने विचारों में यत्किंचित् विकृति भले ही ले आये, परंतु अंगों के साथ वह विषमता का बर्ताव नहीं कर सकता है। दिखने की दृष्टि से यद्यपि सिर ऊपर दिखता है, परंतु सिर की हमदर्दी और उसका सहयोग सारे शरीर के अंदर व्याप्त होता है। जो जमीन पर चलनेवाले पैर हैं, उनके साथ भी सिर सदा समता का बर्ताव करता है। सिर यह नहीं सोचता कि मैं सबसे ऊपर हूँ, तो नीचे के अंगों की परवाह क्यों करूँ ? पैर तो सबसे नीचे होते हैं, अशुचि में भी चलते हैं, तो उनकी रक्षा का उपाय क्यों करूँ या हाथों का उपयोग क्यों करूँ अथवा पेट को शक्ति क्यों दूँ ? ऐसी विचारणा मस्तिष्क में नहीं उठती है। यदि मस्तिष्क ऐसा चिंतन करने लग जाये, तो इस शरीर के सारे ढाँचे का रूपक ही बिगड़ सकता है। किंतु मस्तिष्क समभाव और सहयोग की दृष्टि से कार्य करता है, तभी शरीर की संगठित गतिशीलता चल पाती है।

1 x fBr 1 g; lx dh fLEwr

शरीर के ढाँचे में संगठित सहयोग की स्थिति ऐसी होती है कि ज्यों-ही अन्दर किसी भी भाग में कोई गड़बड़ पैदा होती है, तो सब से पहले मस्तिष्क अपना कार्य प्रारम्भ कर देगा। सीने में दर्द हुआ, तो वह अपने यंत्र को वहीं केन्द्रित कर देगा। पीठ या पेट में दर्द हुआ, तब भी वह अपनी शक्ति को लगाने में देरी नहीं करेगा। और तो दूर रहा, परन्तु यदि पैर में भी कांटा लग गया और पैर

अशुचि से भरा हुआ भी रहा, तब भी समभाव के साथ मस्तिष्क कार्यरत होकर आँखों और हाथ को आज्ञा देगा कि वे देखकर तुरन्त कांटे को बाहर निकालें । इस प्रकार मस्तिष्क की वैचारिकता, हाथों की सेवा और सहायता, पेट के उत्तरदायित्व आदि सभी के समन्वित सहयोग से शरीर संघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है।

यह ऐसी व्यवस्था है कि सिर भी जिम्मेदारी से काम करता है, तो नीचे के अंग भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए अपने कर्तव्य को नहीं भूलते हैं। जब कभी सिर को मच्छर काटता है, तो हाथ फौरन वहाँ पहुँचकर अपनी सेवा करता है। मस्तिष्क जब कभी थक जाता है और ताजगी पाना चाहता है, तो पैर उसकी थकान दूर करने के लिए उसे घुमाने ले जाते हैं। इस सिर को अपने ऊपर रखकर नीचे के अंग उसकी भलीभाँति सेवा करते हैं, क्योंकि सिर ऊपर रहते हुए भी अपने को ऊपर नहीं मानकर समभाव के साथ पैरों की भी पूरी सेवा करता है। ऐसी ही सौहार्द्रपूर्ण संगठित सहयोग की स्थिति होती है ।

1 āk 0 oLFk ij fplru dh vto'; drk

इस स्थिति को ध्यान में रखकर चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था पर चिन्तन की आवश्यकता है। एक-एक अंग के एक-एक कार्य का अपने जीवन में चिन्तन करें तथा उससे समुचित शिक्षा लेने का प्रयास करें, तो सारी सामाजिक विषमताओं को आप दूर कर सकते हैं। सामाजिक दृष्टि से भी मेरे भाई जो प्राचीन काल को लेकर वर्ण व्यवस्था पर सोचते हैं और वर्तमान के साथ उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ते हैं, वे ही अधिकांशतः चारों वर्णों के बीच में विषमता की दीवारें खड़ी करते हैं। आज वर्ण-व्यवस्था को सही ढंग से कहाँ निभा रहे हैं ?

आज भी संसार में संघ या संगठनों का जो निर्माण किया जाता है, वह किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही किया जाता है और

संगठनों को आप न भी जानते हों, किन्तु राजनैतिक धरातल पर बननेवाली पार्टियों से तो आप परिचित होंगे ही। इन पार्टियों में भी जब विषमता आती है, तब इनका संचालन खंड-विखंड होने लगता है। कोई भी संगठन तभी टिकता है, जब उसका उद्देश्य स्पष्ट हो तथा समक्ष रहे एवं समन्वय व सहयोग की भावना क्रियाशील बनी रहे। संगठन की सफलता के लिए समभाव का तांता अवश्य ही बना रहना चाहिए।

इस चतुर्विध संघ में भी जितने भाई-बहिन हैं, उनमें से चाहे कोई अध्यक्ष रहे, अन्य पदाधिकारी रहे अथवा साधारण सदस्य रहे, वे सभी एक दूसरे को साथ लेकर चलें एवं स्नेह व सहयोग का परस्पर सद्भाव रखें, तभी संघ सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित रूप से चल सकता है। जब राजनीतिक अथवा आर्थिक संगठनों के सुचारु संचालन के लिए भी समन्वय और सहयोग की पूरी-पूरी आवश्यकता होती है, तो यह हमारा चतुर्विध संघ तो एक ऐसा आध्यात्मिक संगठन है, जिसमें आन्तरिक समभाव की भी आवश्यकता होती है।

चतुर्विध संघ तो आध्यात्मिक समस्याओं को हल करने का संघ है। वीतराग देव ने इस संघ का निर्माण ही इस उद्देश्य से किया है, अतः सब अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने कर्तव्यों के बारे में गंभीरता से सोचें तथा निश्चय करें कि किस श्रेणी में किस-किस योग्यता के साथ किन-किन कर्तव्यों का पालन करना है, तो ऊपर-नीचे के सब अंग समभाव से एवं संगठित रूप से कार्य करते हुए संघ को सुव्यवस्थित तथा सुदृढ़ बना सकते हैं।

dk; Z; l; rkuq kj] fdUrqQ ogkj l erk dk

संघ के अनुशासन में रहते हुए सभी अपनी श्रेणी एवं योग्यता के अनुसार कार्य करें। जो नीचे के अंग है, तो नीचे से काम करें, परन्तु यह नहीं हो कि विषमता के व्यवहार के साथ छोटे अंग की उपेक्षा की जाये। जहाँ जिस अंग के कार्य करने की क्षमता हो, वहाँ

भी उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। प्रत्येक की योग्यता के अनुसार कार्य दिया जाये या उससे कार्य लिया जाये, किन्तु सबके साथ व्यवहार समतापूर्ण होना चाहिए। समता का व्यवहार नहीं होने की दशा में संघ का सुगठित संचालन कठिन हो जाता है।

इस कारण संघ के अग्रगण्यों को समझना है कि हम सिर पर रहें, किन्तु हमारे जो साथी हैं, उनके साथ समता का बर्ताव करें। हम उन्हें ठोकर नहीं मारें, उनका तिरस्कार नहीं करें या किसी प्रकार की विषमता उनके साथ नहीं बरतें— ऐसा मानस उनका बनना चाहिए। अग्रगण्यों के नेतृत्व में चलनेवाले संघ के सहयोगी साथियों को भी सोचना चाहिए कि वे संघ के अगुआओं की आज्ञा में चलें और परस्पर ईर्ष्या तथा राग-द्वेष की परिणतियों की अवस्था को न आने दें। ऐसी परिणतियों के आने पर कर्तव्यपालन ठीक तरह से नहीं हो सकता है।

आज संघ के अन्दर रहते हुए भाई-बहिन जिस तरह से सोचते हैं, उस सोचने में भी अन्तर लाने की आवश्यकता है। आज के सोचने में जो विषमताएँ हैं, उन्हें दूर करना होगा। यह सोचना समता-भाव से होना चाहिए— व्यक्तिगत द्वेष-विद्वेष की भावना से नहीं। जब इस प्रकार के सोचने का क्रम सामूहिक रूप से चलने लगेगा, तो उसका असर निश्चय ही व्यवहार में भी उतरेगा— तब व्यवहार भी समतामय बनेगा। कार्य और व्यवहार में जब समरसता आ जायेगी, तो फिर संघ की चहुँमुखी उन्नति में कोई व्यवधान नहीं रह जायेगा।

1 ak ok 1 s vi vZ vkuh

सच्चे हृदय एवं आन्तरिकता से सेवा की जाये, तो संघ-सेवा से अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। आज कुछ खुशी का प्रसंग उपस्थित है, परन्तु यह खुशी मुझे खुशी नहीं लग रही है। अन्तःकरण में खुशी हो, तभी आनन्द आता है और यह तभी हो सकता है, जब सर्वतोमुखी आध्यात्मिक उन्नति के लक्ष्य को सामने रखकर आत्मीय भावना से

संघ का संचालन किया जाये और संघ की सेवा की जाये। आत्मीय भावना का तात्पर्य यह है कि सब अपने-अपने उत्तरदायित्वों का वहन करते हुए अपने-अपने पद अथवा स्थान पर ईमानदारी से चतुर्विध संघ की सेवा का परिचय दें और जब समय या अन्य सहयोग देने की आवश्यकता हो, तो वैसा सहयोग दें।

संघ-सेवा, स्नेह, समन्वय व समभाव के साथ सहयोग का जो उल्लेख किया गया है, उसमें सभी प्रकार के संभव सहयोगों का समावेश हो जाता है। यह सहयोग चाहे तन से हो, मन से हो अथवा अन्यथा हो— सभी प्रकार के सहयोग के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य की तैयारी होनी चाहिए। जहाँ संघ के लिए बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता हो, तो बुद्धि को बिना संकोच उसके लिए तैयार रखना चाहिए। यदि संघ-सेवा की ऐसी उग्र भावना बनायी जाये, तो निश्चय ही वैसी सेवा से अपूर्व आनन्द की उपलब्धि हो सकेगी तथा संघ के माध्यम से सबकी सामूहिक आत्म-जागृति भी त्वरित गति से सम्पादित होने लगेगी।

प्रतिष्ठा लक्ष्य लक्ष्य; अक्षय

चतुर्विध संघ के धरातल एवं स्वरूप पर भी आपको चिन्तन करना चाहिए। हम सबके-सब जो भगवान महावीर के अनुयायी हैं, किसी एक जाति सम्प्रदाय या दल के नहीं हैं और जो महावीर ने इस चतुर्विध संघ का निर्माण किया, वह भी शुद्ध मानवीय धरातल पर ही किया था। यदि समता के ऐसे धरातल पर हमारा भी जीवन आरूढ़ हो जाये और वह चतुर्विध संघ के रूप में इस प्रकार से निखरे कि दुनिया इसकी तरफ आकर्षित हो जाये, तभी समता का स्वरूप भी निखर सकता है। दुनिया यह कहने लगे कि यह संघ क्या है, प्राणी-मात्र की उन्नति का कल्याण केन्द्र है— तब समझना चाहिए कि चतुर्विध संघ का समतामय धरातल सफल बन गया है।

ऐसे समतामय धरातल को बनाने के लिए संघ के सदस्यों में संघ सेवा की होड़ लगनी चाहिए और उनके कार्य-कलाप एकता के सूत्र में इस प्रकार आबद्ध हों जैसे कि माला के मनके एक सूत्र में पिरोये हुए होते हैं। इस प्रकार की भावना जब संघ के चारों अंगों में फैल जाये, तो संघ का संगठन सुदृढ़ हुए बिना नहीं रहेगा।

, drk ea l Qyrk dk jgL;

साधना के पथ पर स्वस्थ गति से चलने के लिए सहयोग की जरूरत होती है और यह सहयोग आत्मीय भाव के साथ जितना एकता में आबद्ध होता है, उतनी ही सफलता सुनिश्चित बनती है। जब साधना में सहयोगियों के सहारे की जरूरत पड़ती है, तो यह सोचना होगा कि सहयोगी कैसे हों ? सिर के तुल्य, भुजा या पेट के तुल्य अथवा पैरों के तुल्य हों ? सहयोगी सभी प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं, किन्तु प्रमुख आवश्यकता यह है कि सभी में एकता हो और स्नेहपूर्ण समता हो।

जिस व्यक्ति की जैसी भी योग्यता हो, उसके अनुसार वह अपनी शक्ति को संघ की एकता और सेवा में लगाये। मस्तिष्क रूप जो अगुआ हों, उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे नीचे से नीचे व्यक्ति का भी स्नेह सम्पादित करें, तो पैर रूप नीचे के अंगों का भी कर्त्तव्य होता है कि वे मस्तिष्क की आज्ञा के बिना इधर-उधर चरण नहीं रखें।

एक श्रद्धा, एक प्ररूपणा, एक फरसना, एक आवाज, एक दृष्टि और एक रास्ते के सिद्धान्त को यदि कोई संघ अपनाता है, तो वह सब कुछ कर सकता है। आपकी पानी की तरह गति बननी चाहिए। पानी अपनी एक धारा में बहता है और उसके बीच में कभी चट्टान आ जाती है, लेकिन पानी उससे हार खाकर पीछे नहीं हटता है। वह चट्टान से घबराता नहीं है, चट्टान ही उससे हार जाती है, क्योंकि पानी चट्टान से लड़ता नहीं है, बल्कि अपनी कोमलता से

उसको भी पानी बना देता है। तब उस चट्टान में से भी वह अपनी राह बना लेता है। संघ में भी ऐसी ही गति आनी चाहिए। संघ के संचालन में कई कठिनाइयाँ आ सकती हैं, किन्तु संचालकों को अपनी कोमलता से दूसरों का हृदय जीतते हुए उन्नति के मार्ग को निष्कंटक बनाना चाहिए।

संघ की सुदृढ़ता के लिए संचालकों को भी संघ की एकता का बल मिलना चाहिए, तभी वे व्यक्ति एवं समाज के स्वस्थ जीवन की खोज में सहायक बन सकते हैं। संघ का उद्देश्य ही यह होता है कि आत्म-जागृति का मंत्र सब तक पहुँचाया जाये और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही संघ के संगठन में एकता एवं समरसता की सर्वाधिक आवश्यकता होती है।

Økürdlj h pj. k vlxs c<rs jga!

आज द्वितीया के प्रसंग से स्वर्गीय आचार्य श्री के आदर्श-जीवन से सबको प्रेरणा लेनी चाहिए। वे संघ के आधार-स्तम्भ थे और उन्होंने इस दिशा में जो क्रान्तिकारी चरण उठाया और जो उत्तरदायित्व हम सब पर डाला है- उस जागृति की मशाल को लेकर सभी आगे बढ़ें तथा तन, मन, वचन आदि की शक्ति के साथ उस ज्योति को प्रज्वलित रखें, तो संघ की सुव्यवस्था श्रेष्ठतम बन सकेगी। मूल आवश्यकता यह है कि क्रान्तिकारी चरण निरन्तर आगे बढ़ते रहें और उनकी गति में किसी भी प्रकार से शिथिलता नहीं आये।

यह संघ का ही माहात्म्य है कि सोनावत परिवार की तरह मुमुक्षु-जन अपने जीवन में त्याग को गहरा बनाते हैं और संघ की जड़ों को मजबूत करते हैं। जो बहिर्न कभी पर्दे के पीछे बैठनेवाली थीं, वे जब दीक्षित होकर जीवन में आगे बढ़ीं, तो आज महासतियों के रूप में वीतराग वाणी का प्राभाविक रूप से प्रचार कर रही हैं। साधना का यह रूप संघ के सहयोग से ही निखरता है, अतः यह न

भूलें कि संघ को निरन्तर क्रियाशील बनाये रखने के लिए स्नेह, सहानुभूति, समभाव एवं सहयोग का धरातल सुदृढ़ बनाना ही होगा और इसके साथ क्रान्तिकारी कार्यक्रम अपनाने होंगे, तभी चतुर्विध संघ एक सच्चा आध्यात्मिक संघ बना रह सकेगा।



दीक्षा की स्वस्थ परम्पराएँ

*ॐ, L: Khueulr oLrfo'k a-----***

आज इस जयपुर नगर के प्रांगण में यह तीसरी भागवती दीक्षा का प्रसंग उपस्थित हो रहा है। ये जो दीक्षाएँ होती हैं, वे सभी प्रभु महावीर के शासन के अन्तरपेटे में ही मानी जानी चाहिए। यद्यपि दीक्षा देने का कार्य माध्यम की दृष्टि से किया जा रहा है, परन्तु ध्यान में रखने की बात है कि ये दीक्षाएँ किसी व्यक्ति-विशेष की थाती नहीं हैं। ये तो वीतराग देव के शासन की थाती-रूप होती हैं। कभी कुछ भाई सोचते होंगे कि ये दीक्षाएँ अमुक व्यक्ति के पास हो रही हैं, तो मैं स्पष्ट कर दूँ कि जिस व्यक्ति को आप अपने सामने देखते हैं, वह तो एक माध्यम है— दीक्षाएँ महावीर के शासन के अन्तर्गत ही मानी जायें। महावीर प्रभु का चतुर्विध संघ जिसमें साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चारों तीर्थों का संगम होता है— एक ऐसा आध्यात्मिक परिवार है— संगठन है, जो पारस्परिक सहयोग से आत्मजागृति के पथ पर अग्रसर होता है।

चतुर्विध संघ में श्रावक-श्राविकाएँ भी हैं, तो साधु-साध्वियाँ भी। इसलिए दीक्षा लेने के फलस्वरूप समुन्नत श्रेणी में ऊपर चढ़ना

अवश्य होता है, किन्तु संघ तो वही रहता है और महावीर का शासन उसी प्रकार मार्ग-दर्शन करता है। अपनी-अपनी श्रेणी में महावीर के निर्देश उसी प्रकार अनुपालनीय रहते हैं। अतः यह तथ्य स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सभी महावीर के शासन में हैं, उनके चतुर्विध संघ के सदस्य हैं तथा माध्यम के द्वारा दीक्षाएँ सम्पन्न होने के बाद भी महावीर के शासन की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

nhkk %R lx&ekxZ dh irhd

यह दीक्षाओं का प्रसंग प्रभु महावीर के त्याग-मार्ग का स्मरण कराता है। वर्तमान युग में देखा जाये, तो कई तरुण और तरुणियाँ त्याग-मार्ग की विपरीत दिशा में गमन कर रहे हैं— भोग को ही उन्होंने जीवन का लक्ष्य मान लिया है। पश्चिम की संस्कृति का इस देश पर भी इतना असर पड़ता जा रहा है कि हिप्पियों की तरह यहाँ का युवा-वर्ग भी न जाने कैसे-कैसे प्रयोग करने लगा है और अपने-अपने देश की बलिदानी संस्कृति को भूलता जा रहा है। जिस देश का युवा-वर्ग ही भोग को अपने जीवन में रमा लेने की कुचेष्टा में लग जाये, तो कैसे कल्पना करेंगे कि उस देश में मानवीय गुणों का प्रसार हो सकेगा ?

किन्तु यह भी सत्य है कि भारत की दार्शनिक संस्कृति का प्रभाव भी अमिट है। महावीर की इस भागवती-दीक्षा को ही देखिए— यह त्याग-मार्ग की प्रतीक है और इस समय जिन तरुण एवं तरुणियों को इस त्याग-मार्ग पर आरूढ़ होने हेतु आप तत्पर देख रहे हैं, उनके जीवन में भी प्रभु महावीर के शासन के प्रति एक घनिष्ठ निष्ठा के भाव जागृत हो गये हैं। निष्ठा के ये भाव इनकी आकृतियों पर आपके सामने अभिव्यक्त हो रहे हैं।

nhkk dh LoLFk ijEi jk ;

यह सर्वविदित है कि काल-प्रवाह में महावीर के शासन में ही

कई सम्प्रदायों एवं उप-सम्प्रदायों ने जन्म ले लिया और इसी कारण दीक्षा की स्वस्थ परम्परा स्थापित करने के सम्बन्ध में यह विचार चला कि नयी दीक्षाएँ अलग-अलग साधु-साध्वियों की नेश्राय में न होकर तीसरे पद (आचार्य) की एक ही नेश्राय में हों, ताकि संघ की एकता में विभेद उत्पन्न न हो।

आपको स्मरण होगा कि वृहद् सादड़ी सम्मेलन में, जबकि देश भर के अधिकांश संत-सती वर्ग एकत्रित हुए थे और संगठनात्मक रूप में आये थे, तब यह चिन्तन चला था कि संघ में फैली विभिन्नताओं को कैसे समाप्त किया जाये ? तब सारे विचार-विमर्श का यही निष्कर्ष सामने आया था कि दीक्षा की परम्परा में स्वस्थ परिवर्तन लाया जाये। इस अलग-अलग शिष्य-परम्परा का जब तक समुचित समाधान नहीं होगा, तब तक जिन-शासन की एकता सुन्दर तरीके से नहीं बन सकेगी। तब अन्य अनेक बातों के साथ एक शिष्य-परम्परा पर बल दिया गया था। यह भी सोचा गया था कि एक ही नेतृत्व में दीक्षा, शिक्षा, प्रायश्चित, विहार आदि कार्य सम्पन्न हों और भिन्न-भिन्न साधु-साध्वी अलग-अलग अपनी-अपनी नेश्राय में दीक्षाएँ न दें।

, d f'K; &ijEijk dk l\$ kUr d n'Vdksk

एकत्व भावना का उद्देश्य रखते हुए पंच-परमेष्ठि महामंत्र में उल्लिखित तीसरे पद के साथ दीक्षा-कार्य को संलग्न कर दिया जाये, तो एक शिष्य की परम्परा के रूप में स्वस्थ वातावरण का निर्माण तो होता ही है, परन्तु एक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की भी पूर्ति होती है और यह सिद्धान्त है एकता का, संगठन का, किसी भी संघ की एकता एवं संगठनात्मक सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि उसका अनुशासन कठोर हो, अनुप्रेरक हो तथा गतिशील हो, उसमें उच्छृंखलता के बढ़ने की गुंजाइश न हो। एक शिष्य की परम्परा से आचार्य का व्यवस्था-क्रम अधिक अनुशासनबद्ध हो जाता है तथा संघ की एकता को बल मिलता है।

सादड़ी सम्मेलन में सिद्धान्त की दृष्टि से यह एक सिद्धान्त भावात्मक स्थिति से जनमानस के समक्ष आया था। इस सिद्धान्त पर व्यापक रूप से विचारणा भी चली, परन्तु सारे समूह के बीच में इसे पूर्णतः मूर्त रूप देने की स्थिति नहीं आ रही थी। तब स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. ने यह सोचा कि इस सम्मेलन में मेरे नेतृत्व में विचार-विमर्श-रूप में ही सही-जिन सिद्धान्तों एवं नियमोपनियमों का संकलन हुआ है, मेरे जीवनकाल में यदि श्रमण-श्रमणी-वर्ग अपने आचरण में उन सिद्धान्तों एवं नियमोपनियमों को मूर्त रूप दे दें, तो मेरा स्वप्न साकार हो जाये। इसके लिए उन्होंने अथक प्रयास भी किया और संघ के तत्कालीन वातावरण में अपने मान-अपमान की परवाह किये बगैर स्व. आचार्य श्री ने सर्वत्र स्पष्ट किया कि एक शिष्य-परम्परा की स्थापना के बिना स्थायी एकता का उदय नहीं हो सकेगा। परन्तु समय का प्रवाह कहिए या अन्य कारण सोचिए, उस बड़े समूह के रूप में इस स्वस्थ परम्परा का श्रीगणेश नहीं हो पाया- जो भावात्मक स्वरूप बना था, उसका व्यावहारिक रूप नहीं ढल पाया।

Lo- vlpk; ZJh l adYi & 'Kä ds /kuh Fls

आप जानते हैं कि अपने भद्रिक परिणामों के साथ स्व. आचार्य श्री संकल्प शक्ति के धनी थे। उन्होंने सोचा कि छोटे रूप से ही व्यापक रूप बनता है, अतः यदि मेरे जीवन के अन्दर ही सादड़ी-सम्मेलन के शुभ निश्चयों को साकार रूप दे दिया जाये, तो भावी स्थिति सरल बन जायेगी। इस दृष्टि से उन्होंने सब संतों से सलाह मिलायी और सब दरवाजे खुले रखकर भावात्मक सावधानी दिलाते हुए स्पष्ट घोषणा की कि जिस समय भी सादड़ी-सम्मेलन के सर्वांगीण प्रस्तावों का व्यावहारिक रूप श्रमण-वर्ग में आ जायेगा, तो उस एकता के क्षेत्र में एक रूप होने के लिए मैं तत्पर रहूँगा और मेरे सारे सन्त तत्पर रहेंगे। यह घोषणा आज भी लिखित रूप में

निवेदन-पत्रिका में विद्यमान है और उन्हीं भावों को अपने सामने रखते हुए मैं दीक्षा की स्वस्थ परम्पराओं एवं संघ की एकता के बारे में आपको कुछ बता रहा हूँ।

स्व. आचार्यश्री ने इस घोषणा के अनुरूप जितने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इन सिद्धान्तों तथा नियमोपनियमों से अपने आपको संलग्न बनाना चाहते थे, उन्हें यह निर्देश दिया कि अब भविष्य में जो भी नयी दीक्षा होगी, वह तीसरे पद (आचार्य) के माध्यम से एक नेतृत्व में हो और सभी दीक्षित एक आचार्य की नेश्राय और आज्ञा में ही चलें। उन्होंने फरमाया था कि तीसरा पद स्थायी होता है। व्यक्ति तो आता है और चला जाता है, परन्तु आचार्य का पद सदा काल विद्यमान रहता है। यह स्व. आचार्यश्री की संकल्प-शक्ति का ही प्रभाव था कि उन्होंने सादड़ी-सम्मेलन के प्रस्तावों को अमलीरूप दिया तथा एकता के लिए अपनी व्यावहारिक तत्परता प्रदर्शित की।

'kk u vk' vuqkk u dk eglo

चतुर्विध संघ पर भगवान महावीर का शासन है तथा उसका अनुशासन आचार्य चलाते आये हैं- यह सैद्धान्तिक परम्परा है। इसी परम्परा के अन्तर्गत स्व. आचार्यश्री के निर्देशानुसार इन दीक्षाओं का व्यावहारिक रूप आपके सामने आ रहा है। ये दीक्षाएँ जितनी हो चुकी हैं और जो हो रही हैं, वे सभी तीसरे पद के प्रति निष्ठा की दीक्षाएँ हैं। ये सभी तन, मन, जीवन की स्थिति से वीर प्रभु के शासन को दिपाने की दृष्टि से जुटने की तैयारी कर रहे हैं। शासन और अनुशासन का यही महत्व होता है कि एक विचारधारा को हृदयंगम करते हुए ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र में कठोरतापूर्वक प्रगति की जाये, जिससे आत्म-जागृति के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

आज जिनकी दीक्षाएँ हो रही हैं, उनके अलावा भी जिन मुमुक्षु आत्माओं को- दीक्षार्थी भाई-बहिनों को आप देख रहें हैं, वे भी इसी उग्र भाव से शासन की सेवा करने के लिए लालायित हो रहे हैं और

भविष्य में एक दीक्षा परम्परा के क्रम में जुड़ने को तत्पर हो रहे हैं। शासन और अनुशासन को दृष्टि में रखते हुए तथा स्व. आचार्यश्री के निर्देश की पालना में इस एक शिष्य की परम्परा को इसी कारण सुदृढ़ बनाया जा रहा है कि संघ की एकता का सूत्र सुदृढ़ बना रहे। भावनात्मक एवं व्यावहारिक पक्ष को यदि निरन्तर मजबूत बनाते रहें, तो व्यापक पैमाने पर एकता का उद्देश्य भी एक दिन पूरा होकर रहेगा।

nhkk gsrq vkk&nku dh ijEi jk

वीर प्रभु के शासन के अन्तर्गत यह दीक्षा-परम्परा का सिलसिला, जो आपके सामने आ रहा है, उसके दीक्षार्थी हैं, निकुंभ (जिला चित्तौड़गढ़) निवासी भाई भंवरलालजी गहलोत। इनके माता, पिता, भाई, सम्बन्धी एवं निकुंभ संघ के लोग प्रायः यहाँ उपस्थित हैं। संसार की दृष्टि से कंवरमुनि जी इनके काकाजी हैं। एक लम्बे अर्से से भंवरलाल जी की भावना इस ओर लगी और उन्होंने इस अर्से में अध्ययन आदि किया तथा आज इनके लिए मुनि-भाव को साकार रूप देने का प्रसंग आ रहा है।

दीक्षा हेतु आज्ञा-दान की भी एक स्वस्थ परम्परा है और उसका पालन विचारपूर्वक होना चाहिए। अतः दीक्षा के पूर्व सबसे पहले मैं भंवरलाल जी को चेताना चाहता हूँ कि वे अपने इस संकल्प को दृढ़ बना लें कि एक आचार्य के नेतृत्व में तदनुरूप संयम-साधना करते हुए वीर प्रभु के शासन की सेवा में अपने आपको निष्ठापूर्वक लगाना होगा। कठिन परीषह भी सामने आयें, तब भी हर्षपूर्वक अडिगता से उन्हें सहना पड़ेगा। यह सारी तैयारी इस समय होनी चाहिए।

यद्यपि भंवरलाल जी के माता-पिता आदि का लिखित आज्ञा-पत्र आ चुका है, फिर भी इस वेला में मैं एक बार और पूछना चाहता हूँ कि उन्हें दीक्षा का प्रत्याख्यान कराने में उनकी अनुमति है ?

(स्वीकारात्मक स्वर) इन के साथ जयपुर-संघ के अध्यक्ष, मंत्री आदि कार्यकर्ताओं से भी दीक्षा की अनुमति चाहता हूँ । (स्वीकारात्मक स्वर) साधारण रूप से जयपुर नगर के प्रशासनिक पदाधिकारियों एवं नागरिकों से भी मैं इस दीक्षा के लिए अनुमति माँगता हूँ । (उपस्थितों का सामूहिक स्वीकारात्मक स्वर) अब मैं अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के अध्यक्ष, मंत्री आदि अन्य प्रतिनिधियों से भी इस दीक्षा की आज्ञा की माँग करता हूँ। (स्वीकारात्मक स्वर) अब मैं समस्त दर्शक जनता से अपनी सम्मति प्रकट करने के लिए अपने हाथ ऊपर उठाने का आग्रह करता हूँ । (सब ने अपने हाथ ऊपर उठाये।)

अब मैं यह मानता हूँ कि सभी पक्षों ने इस दीक्षा के हेतु अपनी आज्ञा एवं सहमति प्रदान कर दी है । यह सारा कार्य महावीर के शासन का है तथा यह भी ध्यान रखिए कि आपने यह आज्ञा किसी व्यक्ति को नहीं दी है, बल्कि यह वीतराग देव के शासन में प्रवेश करनेवाली महान आत्माओं के प्रति अपनी आज्ञा दी है । इस तरह एक पुण्य कार्य में आपने हाथ बँटाया है ।

nh'kk nus dh ekheZl i f0; k

दीक्षा के प्रसंग से ही आप लोगों ने अपनी सांसारिक गतिविधि से जो प्रक्रिया चलायी होगी, उसे आप लोग जानें तथा जो रीति-रस्म आप करना चाहें, उसका अवसर आप देख सकते हैं । (परिवार एवं संघ के अनेक व्यक्ति दीक्षार्थी को चादरें ओढ़ाते हैं।) दीक्षार्थी को जो ये चादरें ओढ़ाई गयी हैं, ये सब की सब सन्त की मर्यादा की स्थिति में आनेवाली नहीं हैं। अब मैं इनको मुनि-दीक्षा का प्रत्याख्यान करवा रहा हूँ। अभी तक वे गृहस्थ-पर्याय में ही चल रहे हैं और जो कुछ ओढ़ाया है- यह सब इनके परिवार के साथ है। अब तो इनके पास मर्यादित वस्त्र और पात्र ही रह सकेंगे।

दीक्षा देने की शास्त्रीय प्रक्रिया अति मार्मिक और प्रभावोत्पादक

होती है। इस प्रक्रिया में न केवल दीक्षार्थी की उमंग ही प्रबल रूप धारण करती है, अपितु दीक्षा के दर्शक भी भाव-विभोर हुए बिना नहीं रहते। अब मैं शास्त्रीय प्रक्रिया प्रारम्भ करता हूँ—

गमो अरिहंताणं.....

इच्छाकारेणं.....

तस्स उत्तरी करणेणं.....

काउसग्ग (इच्छाकारेणं व लोगस्स के दो पाठ)

गमो अरिहंताणं (प्रकट रूप में)

आर्तध्यान, रौद्रध्यान

लोगस्स उज्जोयगरे

करेमि भंते..... (तीन बार)

गमुत्थुणं..... (दो बार)

दीक्षा की जैन-विधि के अनुसार इन पाठों के उच्चारण के पश्चात् भंवरलालजी अब दीक्षित होकर मुनि बन गये हैं। इन पाठों के अनुसार समस्त सावद्य योगों का परित्याग करा दिया गया है और अब ये गृहस्थ-पर्याय से साधु-पर्याय में आ गये हैं। एक दृष्टि से इस समय इनका पुनर्जन्म हुआ है। जिन-वाणी के निर्देशों के अनुसार अब इनको अपना मुनि-धर्म चलाना है और अपनी आत्म-जागृति को, एक सीढ़ी से दूसरी पर, ऊपर चढ़ाते हुए समुन्नत बनाना है। इन्होंने इस आध्यात्मिक पाठशाला में प्रवेश लिया है, जहाँ की कक्षाओं में उन्नति करते हुए ये नवदीक्षित मुनि अपने साध्य की ओर निरन्तर अग्रसर होते रहें— यह मेरी और आप सब की शुभकामना है।

vkrfjd t kxfr dk ifj. ke& nkrk

सांसारिकता से विरक्त होकर अपने जीवन को आध्यात्मिक क्षेत्र में पूर्णतः समर्पित कर देने का नाम ही दीक्षा है और यह दीक्षा

स्पष्ट रूप से आन्तरिक जागृति का परिणाम होती है। दीक्षार्थी भाई या बहिन जब आन्तरिक जागृति से प्रोत्साहित होते हैं, तभी उनमें दीक्षा लेने की भावना प्रबल बनती है। दीक्षार्थी भाई और बहिनों की भावनात्मक स्थिति से अपनी तैयारी होती है, तब वे परिवारवालों को अपनी स्थिति में लाते हैं और इस प्रकार यह एक हृदय-परिवर्तन का क्रम चलता है। इसमें कोई जोर-जबरदस्ती नहीं होती है। कभी-कभी भ्रान्तिवश लोग कुछ का कुछ सोच लिया करते हैं कि अमुक व्यक्ति को अमुक तरह से दीक्षा दिला रहे हैं। कभी कोई कह देता है कि पैसे की स्थिति से दीक्षा दिला रहे हैं, किन्तु ऐसा कहना विवेकहीन होता है। अन्तःकरण की तैयारी के साथ ही दीक्षा लेने की भावना बनती है।

किसी भी दीक्षा में यदि किसी भाई को किसी भी प्रकार की शंका पैदा हो जाये, तो उसका सब से पहला कर्तव्य यह होता है कि वह खास जिम्मेदार व्यक्ति से रूबरू मिले और सारी जानकारी हासिल करे— सिर्फ बाहरी बातों पर ही विश्वास करके गलत प्रोपेगेंडा न करे। इतना करने पर भी यदि उसे संतोष नहीं हो, तब वह भले ही उस दीक्षा का विरोध करे। किन्तु अक्सर लोग सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही अपनी गलत धारणा बना लेते हैं तथा ऐसे पवित्र कार्य को व्यर्थ ही में बदनाम करके कर्मबन्ध की स्थिति में गिरते हैं।

आन्तरिक जागृति के बिना दीक्षा लेना और दीक्षा लेकर उसे निभाना कोई हंसी-खेल नहीं है। संयम-साधना कितनी कष्टकर होती है— यह आप लोग भी देखते हैं तथा दीक्षार्थी भी भलीभाँति देखते हैं। अतः व्यर्थ निन्दा उचित बात नहीं है।

ijklkklsixfr dh ij. k

दीक्षाओं के सम्बन्ध में कभी ऐसे-ऐसे तथ्य भी कर्णगोचर होते हैं कि जिनका मूल नहीं और फल बता दिया जाता है। मैं ऐसे विषय पर कभी-कभी सोचा करता हूँ कि बाजार में जो बातें इधर-उधर बिकती हैं, वे कभी तो ठीक होती हैं, मगर ज्यादातर बेठीक

होती है। कभी-कभी तो ऐसा भी चल पड़ता है कि बारह हाथ की ककड़ी और तेरह हाथ का बीज है। परन्तु ऐसा बाजार कहाँ उहरा हुआ होता है ? वैसे मैं तो ऐसी बातों को दीक्षार्थी अथवा नवदीक्षित के लिए शुभ लक्षण ही समझता हूँ कि उनके जरिये एक प्रकार से उनके परीक्षण का कार्य ही बनता है। ऐसी बेसिर-पैर की बातों से भी साधक की परीक्षा होती है कि वह कितना सहनशील है तथा प्रगति के पथ पर कितना आगे बढ़ चुका है।

ऐसा परीक्षण प्रगति के लिए प्रेरणादायक ही बनता है। फिर भी मैं इतना अवश्य ही कहना चाहता हूँ कि इन दीक्षाओं के विषय में जो कुछ भी प्रसंग बना हो— उसको ध्यान में रखते हुए यथास्थान यदि कोई समाधान का प्रसंग आयेगा, तो उसके लिए मैं अवश्य तत्पर रहूँगा। कोई सोचे कि महाराज क्या समाधान करेंगे, किन्तु मैं तो मेरी वृत्ति से जहाँ हूँ, वहीं से स्पष्ट हूँ। कोई भी मेरी चौबीसों घंटे की दिनचर्या का अवलोकन कर सकता है कि मैं व्यर्थ के विषयों में पड़ता नहीं हूँ। और तो दूर रहा— जहाँ पर दीक्षार्थियों के मुहूर्त निकलवाने का प्रसंग आता है, उसमें भी मैं भाग नहीं लेता हूँ। मैं तो यही कहता हूँ कि उनके अभिभावक अथवा संघ के मुखिया लोग जैसा उचित हो, वैसा सोचें। मेरे सामने तो वेष पहनाकर खड़ा कर दोगे, तो उसके शिक्षा, संस्कार व संकल्प को परख करके तथा सबकी आज्ञा प्राप्त करके उसको यथासंभव मैं दीक्षा पच्चक्खाने की भावना रखता हूँ।

दीक्षाओं के प्रसंग में सभी ओर से परीक्षण की भावना रहेगी, तो उससे लाभ ही होगा और साधक के मन में प्रगति की प्रेरणा अधिकाधिक बलवती बनती जायेगी।

ijEjk ; LoLfk cuh jga

भगवती दीक्षा ग्रहण करने और कराने के सम्बन्ध में जितनी भी परम्पराएँ शास्त्रीय दृष्टि से ढली हुई हैं— सबका यह ध्यान रखने का कर्त्तव्य है कि उनमें किसी भी प्रकार से विकारों का प्रवेश नहीं

हो। जब तक परम्पराएँ स्वस्थ बनी रहेंगी, साधक का जीवन भी निर्मल बनता रहेगा, तो संघ की सुघड़ता भी निखरती रहेगी।

यही कारण है कि ये वैरागी और वैरागिनियाँ जब मेरे सामने आते हैं, तो इस सम्बन्ध में मैं दो शब्द उनसे अवश्य कहता हूँ। साधु-मर्यादा के अनुसार जो करणीय होता है, वही करता हूँ तथा मैं अन्य प्रपंच में तनिक भी नहीं पड़ता हूँ। मैं अपनी स्थिति को स्पष्ट बतला सकता हूँ और उसमें आपको कोई भी संशय हो, तो आपको अवश्य ही यथास्थान पूछकर वस्तु-स्थिति का निर्णय निकाल लेना चाहिए। ऐसा स्पष्टीकरण किये बिना यदि आप भ्रान्तिवश चलते रहे, तो ध्यान रखो कि कहीं महामोहनीय कर्म का बंध न हो जाये।

अधिकांशतः परम्पराओं पर समूचे जीवन का क्रम चलता है और जब तक परम्पराएँ जीवन्त बनी रहती हैं, तब तक चाहे व्यक्ति हो अथवा संघ, उसकी गति भी संजीवनी की तरह सक्रिय रहती है। किन्तु यदि प्रमादवश अथवा अन्यथा परम्पराओं को विकृत बनने दिया गया, तो वे ही परम्पराएँ भावशून्य होकर रूढ़ बन जाती हैं तथा अपना प्रभाव खो देती हैं। यही कारण है कि परम्पराओं को स्वस्थ बनाये रखने की दिशा में सभी का ध्यान केन्द्रित रहना चाहिए। जब कभी मोह, हठ या विद्वेष के भाव उग्र होते हैं, तो उस समय तक एक तरह की ऐसी अन्धता आ जाती है कि परम्पराओं की शुद्धता का ध्यान शिथिल हो जाता है, वरना विवेकपूर्ण दृष्टि के रहते सभी परम्पराओं की श्रेष्ठता का ख्याल रखते हैं।

दीक्षा चूंकि आन्तरिक जागृति के साथ सारे जीवन को एक नये साँचे में ढालती है, अतः इस की परम्पराओं की शुद्धता के सम्बन्ध में विशेष सतर्कता आवश्यक है। इस दीक्षा के प्रसंग पर दो शब्द जो मैं बोल गया हूँ, सो आप ध्यान में रखें।



मोह मदिरा रूप होता है

“Yū iḥḥiḥt u rḥ eḥ vḥa: js-----”

ये पद्म प्रभु की प्रार्थना की पंक्तियाँ हैं। प्रार्थना आत्मा से सम्बन्धित बनती है, जिस के माध्यम से अन्तर् चिन्तन की वह दिव्य शक्ति प्राप्त होती है, जो अतुलनीय होती है। इस दिव्य शक्ति के बल से ही, सारे संसार का व्यवस्थित कार्य चल सकता है, बशर्ते कि यह शक्ति वास्तविक रूप से प्रकट हो। जब तक इस आन्तरिक शक्ति का आत्मा को परिज्ञान नहीं होता, तब तक जीवन में शान्ति के क्षण प्रस्फुटित नहीं होते हैं। इसी शक्ति की उपासना के लिए ही परमात्मा का ध्यान आवश्यक होता है। प्रभु इस दिव्य शक्ति के भंडार होते हैं और जब प्रार्थना के रूप में उनका ध्यान किया जाता है, तो धीरे-धीरे वह अलौकिकता इस आत्मा को भी प्राप्त हो— ऐसा अटल विश्वास किया जा सकता है।

यह इसलिए कि वही दिव्य शक्ति मूल रूप में इस आत्मा में भी समाहित होती है, किन्तु उसे प्रकट करने के लिए आदर्श उदाहरण के रूप में प्रभु के स्वरूप को समक्ष रखने की आवश्यकता होती है। यदि आत्मा विवेकज्ञान के साथ प्रभु के ध्यान में लग जाये,

तो उसको यह देहात्म-भाव सरल हो जायेगा, क्योंकि जब अपने को समझने की प्रक्रिया सफलतापूर्वक प्रारम्भ हो जाती है, तभी यह सत्य प्रकट होता है कि जो यह धन-वैभव के साथ लगाव चल रहा है, यश-कीर्ति के लिए भाग दौड़ हो रही है, वह इस अमूल्य जीवन के अपव्यय के सिवाय कुछ नहीं है। इसी अमूल्य-जीवन को यदि प्रभु की उपासना और प्रार्थना में लगाया जाये, तो उस दिव्य शक्ति के साक्षात्कार के साथ इसी जीवन को अलौकिक भी बनाया जा सकता है।

vkrT; kfr ds l kfk l gNurk

प्रार्थना के सबल माध्यम से जब इस अमूल्य-जीवन को आत्म-ज्योति के साथ संलग्न बनाया जाता है, तभी उस दिव्य शक्ति की दिव्यता स्पष्ट होने लगती है। तब देह और आत्मा का अन्तर ही स्पष्ट दिखायी देने लगता है और यह तथ्य स्पष्ट होता है कि यह देह भी आत्मा से पृथक् है और आत्मा की पूर्ण मुक्ति, देह-मुक्ति पर ही टिकी हुई है। इसी अन्तरावस्था को ध्यान में रखकर ज्ञानीजन "क्षणेण देहं विहाय....." के सत्य को समक्ष रखते हुए कहते हैं कि आत्म-ज्योति के साथ अपनी संलग्नता जोड़नेवाला जीवन एक क्षण के अन्दर देह के अध्यवसायों, देह के साथ लगनेवाले सभी उपायों तथा देह के साथ जुड़े हुए दृष्टिगत होनेवाले सभी तत्वों को छोड़कर परमात्म-दशा में चला जाता है।

परमात्म-दशा आत्मा की श्रेष्ठतम अवस्था होती है और वस्तुतः यह अवस्था ही आत्मा के लिए हितावह है। जो हितावह है, उसके लिए आत्मा को सर्व प्रयास करना चाहिए। एक रूपक दिया गया है कि खदान के अन्दर सोना और पत्थर आपस में एकमेक रूप में मिले हुए रहते हैं, परन्तु तीव्र अग्नि का संयोग मिल जाये, तो तुरन्त वह स्वर्ण अपने दैदीप्यमान अस्तित्व को बाहर ले आता है। जैसे अग्नि के ताप से स्वर्ण का वास्तविक रूप निखर आता है, वैसे ही ध्यानाग्नि के ताप से आत्मा की दिव्य शक्ति परमात्म-रूप में प्रकट

हो सकती है। आत्म-ज्योति के साथ संलग्नता का ही यह शुभ परिणाम होता है।

vkReLo: i dh ifgphu t: jh

परन्तु उस ध्यानाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए आत्म-स्वरूप एवं आत्म-शक्ति की पहिचान होना जरूरी है। इस पहिचान के बिना ध्यान की वास्तविकता प्रकट नहीं हो सकती है। इस पहिचान का अर्थ है कि आत्म-शक्ति के बीच में जो आवरण आये हुए हैं—उन्हें पहिचानना और उन्हें दूर करने के उपायों पर पराक्रम दिखाना। वह शक्ति आवरण/बन्ध के नीचे दबी हुई है। यह आवरण या बंध आठ कर्मों का बताया गया है, जिनमें महाबली कर्म मोह को कहा है। इस मोहदशा से ही देहात्मभाव बनता है।

इस मोहकर्म का मूल होता है— दर्शन-मोह । दर्शन-मोह की अवस्था से जब आत्मा आच्छादित रहती है, तब आत्मा अपने स्वरूप एवं अपनी शक्ति से विस्मृत होकर पर-पदार्थ में भ्रमण करती रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अपनी वास्तविक धारा को छोड़कर मिथ्या धारा में बहने लगती है। वैसी अवस्था में वह मानव-तन पाकर भी उसका वास्तविक महत्व अंकित नहीं कर पाती है। उस विस्मृत अवस्था में वह मनुष्य-जीवन को जीवन्त रूप में नहीं, बल्कि एक यंत्र के रूप में चलाती है। वह यंत्रवत् चलाना भी अव्यवस्थित रूप में होता है।

अपने स्वरूप एवं शक्ति को भूली हुई आत्मा इस रूप में इस जीवन को पौद्गलिक सुख प्राप्त करने का अव्यवस्थित यंत्र बना बैठती है। जीवन को भोग का केन्द्र बना लिया जाता है और मृगतृष्णा की तरह नाशवान पदार्थों के पीछे इस अमूल्य मानव-जीवन को नष्ट कर दिया जाता है।

n'kzi elg deZds vkoj. k

इस परिस्थिति के पीछे दर्शन मोह कर्म के आवरण भुलावे में डालकर स्वरूप-स्मरण को अवरुद्ध बनाते रहते हैं। अतः इस कर्म के आवरणों को दूर हटाना होगा तथा उन कारणों से भी दूर रहना होगा जो दर्शन मोह कर्म का बंध कराते हैं। दर्शन मोह कर्म के बंधने के कारणों का उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

“ dofy JqI ākležoko. kōkns n'kzi elg; A 16@14½

मनुष्य की अभिलाषा तो यह होती है कि वह अपनी वास्तविक आत्म-शक्ति के दर्शन करे, किन्तु सत्य तत्व-ज्ञान के अभाव में वह कार्य ऐसे कर बैठता है, जिनसे आत्म-शक्ति का दमन होता रहता है। कोई चाहता तो यह है कि वह पागल नहीं बने— बेभान नहीं हो, परन्तु पदार्थों की जानकारी नहीं रखे और तेज शराब पी ले, तो उसकी चेतना शक्ति दबेगी ही। कभी-कभी जानकारी के बाद भी वितृष्णा नहीं रुकती है और आदमी शराब पी लेता है, तब वह नशे में धुत्त बन जाता है। जब नशा चढ़ता है, तो वह पागल भी बनता है, गन्दी नालियों में भी गिरता है और अशुचि में लथपथ भी बन जाता है।

यह मोह कर्म भी मदिरा रूप होता है। जैसी दशा आप बाहर के शराब के नशेवाले की देखते हैं, उससे भी कई गुनी प्रमत्त दशा मोहग्रस्त की होती है।

elg efjnk : i glrk gS

अनादि काल से यह आत्मा मोह के नशे में स्वरूप-विस्मृत बनी हुई भटक रही है। मोह का नशा मिथ्यात्व मोह के साथ मूल से आबद्ध है। इस दशा में बहुतेरे मनुष्य आवेशवश ऐसे कार्य कर बैठते हैं, जिनका कुपरिणाम सामने आने पर वे पश्चात्ताप से म्लान बनते हैं। कई बार तो ऐसा होता है कि आवेश में नहीं आने का पूर्व निश्चय

कर लेने के बाद भी मस्तिष्क में ऐसा नशा छा जाता है कि स्वभाव पर से नियंत्रण हट जाता है और क्रोध, मान, माया या लोभ की वृत्तियों की उलझन में मन उलझ जाता है। बाद में भले ही पश्चाताप होता है कि ऐसा अकृत्य मैंने क्यों कर डाला ? अक्सर ऐसे कार्यों का परिणाम दीर्घकाल तक भोगना पड़ता है।

अतः विचारणीय विषय यह है कि यह ऐसा नशा कौनसा है—कैसी ताकत है— जो मस्तिष्क की शक्ति को कुन्द बनाकर उससे अकरणीय कार्य करवा डालती है। ध्यान रखें, यह नशा कहीं बाहर से नहीं आता है। भावों का नशा जब द्रव्य के साथ संयुक्त होता है, तो उसके साथ ही यह आत्मा बेभान होने लगती है और मन पर से नियंत्रण हट जाता है। तब शांत जीवन अशांत बन जाता है। वह अशांत अवस्था मतिभ्रम पैदा कर देती है। तब आत्मा हिंसा के मार्ग को अहिंसा का मार्ग, जीव को अजीव बताती हुई विपरीत धारणाओं का पोषण करने लगती है। जब ऐसी विडम्बना आगे बढ़ती रहती है, तो यह मोहग्रस्तता दीर्घ काल तक मन—मस्तिष्क और इन्द्रियों पर छा जाती है, जिससे भ्रमित होकर मनुष्य केवली का—केवलज्ञानी तीर्थकरों का अवर्णवाद बोलने लगता है।

आप जानते हैं कि तीर्थकर केवलज्ञान प्राप्त करके चारों तीर्थों की स्थापना करते हैं और आगमों का निर्देश करते हैं, जिनकी ज्ञानगंगा में गोते लगाकर भव्यात्माएँ चारित्र के रत्न खोज निकालती हैं और अपना व संसार का उद्धार करती हैं। ऐसे शुद्ध मार्ग के प्रणेताओं के विरुद्ध अवर्णवाद बोलने का नीच कार्य मोह की मदिरा ही करवाती है और उससे निकाचित दर्शन मोह कर्म का बंध होता है। कई लोग अज्ञानवश कह देते हैं कि किसने केवली देखे हैं, संसार में केवलज्ञानी होते ही नहीं, ये सब मनघडन्त बातें हैं, तो उन लोगों के ऐसे कथन मोह के नशे में उन्मत्त बनने के ही परिणामस्वरूप निकलते हैं। वे अपने मस्तिष्क की कुंठाओं को तो नहीं पहिचानते, किन्तु ज्ञानियों के अस्तित्व को उसी तरह नकार देते हैं, जैसे कि

उलूक अपनी आँखों का दोष तो नहीं देखता, लेकिन प्रकाश के अस्तित्व को ही नकार देता है।

Lo: i n'kz lsdpkj gVxh

मोह-कर्म की उन्मत्तता जब घटती है, तब समझ में आता है कि पहले जो कुछ कहा या किया गया था, वह विवेकहीन था और आत्मानुभूति से परे था। तब यह भी अनुभव होता है कि केवली के बारे में मन में जो शंकाएँ उपजी थीं, वे केवली का और स्वयं की आत्मा का स्वरूप न समझ सकने के कारण उपजी थीं, जिन्हें तब दूर करने की भी वृत्ति पैदा होती है। ज्ञान की गहराई में उतर सकने की अक्षमता के कारण तब केवली का अवर्णवाद बोलना वैसी ही बात दिखायी देती है, जैसे एक बौना महादुर्ग को तोड़ने के लिए अपने हाथ-पैर उछाले। अपने कुंठाग्रस्त ऐसे दुस्साहस के बाद ही बौने को अपनी और महादुर्ग की शक्ति का फर्क समझ में आता है। ऐसी कुंठाओं की उत्पत्ति दर्शन मोह-कर्म के उदय से होती है तथा उसी कर्म के क्षयोपशम से जब स्वरूप-दर्शन की ओर रुचि बढ़ती है, तो वे कुंठाएँ हटती हैं और मन तथा मस्तिष्क की गति स्वस्थ बनकर आत्माभिमुखी होती है।

एक बौना महादुर्ग को नहीं तोड़ सकता, तो क्या यह सत्य हो जाता है कि वह महादुर्ग अपराजेय है ? ऐसा नहीं होता। ऐसे पराक्रमशाली भी होते हैं, जो उस महादुर्ग पर विजय पाते हैं, बल्कि ज्ञान के क्षेत्र का वह बौना ही जब सदाशयता से ज्ञानार्जन करना शुरू करता है, तो निष्ठा के बल पर वह भी उसी पराक्रम को अर्जित कर सकता है। इसी तरह एक बालक या दुर्बल व्यक्ति मन भर बोझ उठाने में सक्षम न हो और वह यह निर्णय दे दे कि मैं इस बोझ को नहीं उठा सकता हूँ, तो दुनिया में कोई भी इस बोझ को उठाने में सक्षम नहीं बन सकता है, तब उसके इस निर्णय का मूल्य कितना होगा ? छोटे मुँह, बड़ी बात की कहावत शायद इसीलिए बनी है कि

पहले अपनी शक्ति को देखो और सही आलोचना करना सीखो।

जब किसी में इससे विपरीत वृत्ति दिखायी देती है, तो यही मानना होगा कि वह मोह की मदिरा पिये हुए है और दम्भ के हिंडोले में पड़ा हुआ उन्मत्तता से प्रलाप कर रहा है। जैसे शराबी नशे में धुत्त होने के बाद भी और शराब पीता है, वैसे ही दर्शन मोह से ग्रस्त आत्मा ऐसा अवर्णवाद करके और अधिक मोहग्रस्तता पैदा करती है।

m) kjd ekxZdh [kk ea ck/kk

इस प्रकार यह दर्शन मोह आत्मा का उद्धार करनेवाली खोज में बाधाएँ उपस्थित करता है। जब मार्ग ही नहीं मिलता है, तो सिद्धि का प्रश्न ही कहाँ उठता है? मार्ग नहीं मिलने से भटकाव ही बढ़ता है। वैसी दशा में आत्मा की अवस्था “इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः” जैसी हो जाती है कि वह इधर भटकती है, उधर भटकती है और दुःखों के जाल में उलझती रहती है। इस अवस्था की तुलना गेंद से की जा सकती है, जिसे जिधर फेंके, उधर ही लुढ़कती रहती है। संसारी आत्मा का भी ऐसा ही बेहाल होता है कि कर्म जैसा डंडा लगाये, वैसे ही गेंद की तरह वह लुढ़कती रहती है— उसे अपने आपे का भान ही नहीं रहता है। दर्शन मोह—कर्म आत्मा के साथ जो स्वरूप—व्यामोह की स्थिति को बनाता है, उसे समझकर सही मार्ग को खोजने में मनुष्य का विवेक लगे— इसी जागृति की प्राथमिक तौर पर आवश्यकता होती है।

जब तक मानव अपनी गेंद—वृत्ति छोड़कर स्वयं को एक ध्रुव पर केन्द्रित नहीं करता, तब तक वह संसार के भटकावों से भी नहीं बच सकता है। वह स्वयं विकारों की ओर बढ़ता है तथा अपना कुप्रभाव संसार और समाज की गतिविधियों पर भी छोड़ता है।

मैं संकेत दे रहा हूँ कि आप में सही मार्ग को खोज निकालने और निष्ठापूर्वक उस पर चलकर परमात्म—दर्शन करने की क्षमता है, योग्यता है, किन्तु आवश्यकता इस पुरुषार्थ की है कि कर्मों के इन

आवरणों को हटाकर इस जीवन को ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में केन्द्रित किया जाये। आप दर्शन-मोह को हटा सकते हैं और इसके बंधन के कारणों को तोड़ सकते हैं, बशर्ते कि आपमें वैसी जागृति आ जाये। आप स्वरूप-दर्शन के इस तत्व का मर्म समझ लें, तो आपको अपनी आत्म-शक्ति का भान भी हो जायेगा तथा सही मार्ग भी मिल जायेगा।

1 E fuk dk en fdruk vlvk glrk gS।

जब आत्म-शक्ति का भान होने लगता है, तभी पता चलता है कि सम्पत्ति और वैभव का जो मद किया जाता है, वह कितना ओछा होता है तथा उस अवस्था में आत्मा पर-पदार्थों की आधीनता में कितनी परतंत्र बनी रहती है ? जब तक परतंत्रता रहती है, परावलम्बन होता है, सही मार्ग का तब तक निर्णय भी संभव नहीं बनता है।

यदि आप नाशवान पदार्थों को बटोरकर जमा भी कर लें, लेकिन क्या आपने सोचा है कि इसका अंतिम परिणाम क्या होनेवाला है? कोई चाहे लखपति, करोड़पति और अरबपति ही क्यों न हो जाये, क्या वह मृत्यु को जीत सकता है ? हाँ, मोह की मदिरा में उन्मत्त बनकर पदार्थ-बल के आधार पर वह यह सोचने लग जाता है कि मेरे समान अब दुनिया में कोई नहीं है। मैं चाहूँ जिस इन्सान का अपमान करूँ-तिरस्कार करूँ, संघ की अवहेलना करूँ और यहाँ तक कि केवलज्ञानियों को भी कुछ नहीं समझूँ-ऐसी मदमस्त और बेभान दशा लोगों में चंद चांदी के टुकड़ों के बल पर पैदा हो जाती है। चिन्तन करना चाहिए कि यह बाह्य सम्पत्ति क्या स्थायी रहनेवाली है ? जरा से भी आत्म-बोध की चेष्टा की गयी, तो पता चलेगा कि यह बाह्य सम्पत्ति चंचल, अस्थायी और नाशवान होती है, फिर इसका कौन-सा दंभ और कैसा अभिमान? इसके अभिमान में जो इंसानियत का अपमान किया जाता है, वह कितना ओछा और क्षुद्र दिखायी देता है ?

इससे भी ओछा और क्षुद्र होता है, अपनी ही स्वयं की आत्मा का अपमान, आत्म-शक्ति का तिरस्कार। जो स्वतंत्रता को छोड़कर परतंत्रता को सुख समझकर बहकता है, वह अपनी संजीवनी शक्ति से ही तो बहकता है। इस स्थिति से आज संभलने की जरूरत है। पुण्य के उदय से यह जो सम्पत्ति मिली भी है— इसके मोह में नहीं पड़कर इसका शुभ कार्यों में नियोजन किया जाना चाहिए तथा अपनी आत्मा को दर्शन मोह के आवरण से अलग रखने की भावना बनानी चाहिए।

1e; dh i qkj 1s Hh t Kx,

सम्पत्ति और वैभव का मोह त्यागने में आत्मा का लक्ष्य तो होना ही चाहिए और यदि यह स्थिति कमजोर हो, तो समय की पुकार से भी जागिए। यह सम्पत्ति का कुछ हाथों में जो संचय हो रहा है, ध्यान रखें कि इस पर दुनिया की आँखें लगी हुई हैं। वह चौकन्ना होकर देख रही है कि अमुक के पास कितनी सम्पत्ति है और वह कैसे ले लेनी चाहिए? इस लेने का मतलब लूट से ही नहीं है, बल्कि नये राजनीतिक विचारों से है, जिन्हें आप समाजवाद या साम्यवाद के नाम से जानते हैं। इस कारण इस लेने को संवैधानिक रूप दिया जा रहा है। फिर भी सम्पत्ति के मद में मेरे भाई यही सोचकर बैठे रहें कि जहाँ मैं जाऊँगा, मेरी सारी सम्पत्ति भी साथ चलेगी, तो इस बेभान अवस्था को क्या कहें ?

यह सोचना तो एक तरह से नशे का सोचना है। किन्तु यदि इस दिशा में जरा-सा भी विवेक उपजाकर सोचा जाता है, तो आपका यही निर्णय होगा कि इस सम्पत्ति के मोह में नहीं पड़ें तथा इसको सिर पर न बिठाकर पैरों में रखें। इसका मतलब है कि इंसान इसके आधीन नहीं बने, बल्कि सम्पत्ति को अपने आधीन रखकर वह उसका सदुपयोग करे— उसको शुभ कार्यों के काम में लेंवें।

आज समय आ गया है, जब आपको अपने विचारों और कार्यों की गतिविधियों को परिवर्तित करना होगा ? आज सामान्य और मध्यम वर्ग के लोग कष्टों से बुरी तरह पिसे जा रहे हैं, तो जो सम्पत्तिशाली हैं, उनका कर्तव्य है कि वे उनके साथ सहानुभूति रखें और उन्हें आत्मबल दें। प्रत्येक पीड़ित के साथ आत्मीयता का अनुभाव रखने से न स्वयं की, बल्कि औरों की आत्मिक शक्ति में भी अभिवृद्धि होगी। प्रत्येक भाई के साथ स्नेह और सहयोग हो, छोटे से छोटे व्यक्ति को समान समझें तथा किसी का अपमान अथवा किसी के साथ संघर्ष करने का मानस न रखें, तो इस आत्मीयता का उत्तरोत्तर विकास होता जायेगा।

n'kzi elg dk {k; vkReh; rk l s

दर्शन मोह कर्म आत्मा को मोह में पटकता है और जब मोह बढ़ता है, तो स्वार्थ भड़कता है। स्वार्थ के साथ ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष, प्रतिशोध, मान, दम्भ, लोभ आदि सभी दुर्गुण लगे हुए होते हैं, जो कर्मों के आवरण को और अधिक घना बनाने का काम करते हैं। किन्तु अगर इस मोह को हटाना है, तो इसका श्रेष्ठ उपाय प्रत्येक मनुष्य ही क्या, प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीयता बढ़ाना है। आत्मीयता त्याग सिखाती है और उत्कृष्ट मानवीय गुणों का विकास करती है। आत्मीयता दर्शन मोह के क्षय का कारण इसीलिए बन सकती है कि उसके माध्यम से समता का प्रसार होता है।

आत्मीयता के अनुभाव में डूबा हुआ मानव-मन यही सोचता है कि मुझे जो कुछ मिला है, उसमें मेरा क्या है ? यह तो सबका है, सबके लिए है। अपने किसी भी पिछड़े भाई का मनोबल में स्थिर कर सकूँ— उसे उपयुक्त सहायता पहुँचा सकूँ, तो यह मेरा ही सौभाग्य होगा। ऐसे विचार से ममता छूटती है और समता निखरती है।

यदि समता की ऐसी मनःस्थिति सब और फैल जाये तथा सबके सब सार्वजनिक स्वामित्व की स्थिति में चल पड़ें, तो क्या कहीं

भी अभाव बना रह सकेगा ? आज समाजवाद की जो आवाज आ रही है, वह इसमें समाहित हो जायेगी। ऐसा मनुष्य कर सकता है, उसके पास शक्ति है, किन्तु इसके लिए दर्शन मोह कर्म की जड़ों को खोद निकालना होगा— मन के मोह और ममत्व को हटा देना पड़ेगा। सबके प्रति आत्मीयता ही इस मोह की जड़ों को सुखा सकेगी, क्योंकि इस आत्मीयता की सरसता से ही समता के नव—सुमन खिला करते हैं।

दर्शन मोह की मदिरा का असर ज्यों—ज्यों कम होता जायेगा,

त्यों—त्यों बुद्धि का सन्तुलन भी बनता जायेगा। बुद्धि का सन्तुलन नहीं होने की अवस्था में ही विविध प्रकार की भ्रान्तियाँ मन और मस्तिष्क में घुसती रहती हैं तथा जीवन को विपरीत दिशा में भटकाती हैं। इसी दशा में मनुष्य धर्म के सत्य मर्म को नहीं समझता है तथा ज्ञानियों की आशातना ओर अपमान करने की भी कुचेष्टाएँ करता है। दर्शन मोह का ही कुप्रभाव होता है कि आगमों और सूत्रों के विषय में भी बिना उनकी गंभीरता का मनन किये विचित्र—विचित्र संशय और भ्रान्तियाँ कई लोग उठाते रहते हैं। जहाँ संशय है, वहाँ सम्यक्त्व नहीं, मिथ्यात्व होता है। सम्यक्त्व समाधान और आस्था में विश्वास करता है। सम्यक्त्व बुद्धि को स्थिर और सन्तुलित बनाता है।

भ्रान्ति का निवारण और सही ज्ञान का वरण बुद्धि के द्वारा सन्तुलित चिन्तन से ही संभव होता है। यही चिन्तन केवली प्ररुपित धर्म की सत्यता एवं चतुर्विध संघ की उपयोगिता को प्रकाशित कर सकता है। स्वयं कार्य नहीं करना और धर्म व संघ आदि में अनास्था जताना दर्शन मोह के बंध का ही कारण होता है। अज्ञान की दशा में बिना मर्म समझे धर्म या संघ की निन्दा निश्चय ही जघन्य कार्य है। यह महापाप का विषय है। त्रुटियाँ कहीं दिखें, तो उनको सुधारने का उपाय करना चाहिए, किन्तु अज्ञानवश भ्रान्तियाँ फैलाना स्वयं का अहित करना है।

इन्सान को ऐसी प्रवृत्तियों से बचना चाहिए और यह बचना सन्तुलित बुद्धि से ही हो सकता है। धर्म और संघ का महत्व ऊँचा होता है तथा केवली प्ररुपित श्रेष्ठ धर्म के सच्चे अनुयायी कम हो, तो उससे धर्म का महत्व कम नहीं होता है। उत्कृष्ट और गुरुतर कार्य भला क्या अधिक संख्या में लोग कर पाते हैं ? श्रेष्ठ श्रेष्ठ ही रहेगा और आदर्श होगा, किन्तु उस आदर्श के प्रति संशय न रहे और उसका सच्चा ज्ञान प्राप्त हो— इसके लिए मनुष्य को स्थिर एवं सन्तुलित बुद्धि से चिन्तन करना चाहिए। बुद्धि के सन्तुलन को देखकर ही कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्ति के मन मस्तिष्क पर बाह्य या आन्तरिक किसी भी प्रकार की मदिरा का कोई प्रभाव नहीं है।

u'lk gVus l s LokHwodrk vkrh gS

नशा कैसा भी हो— चाहे बाहरी या अन्दरूनी, जब वह हटता है, तभी स्वाभाविकता पैदा होती है। नशा जब होता है, तो इन्सान नहीं बोलता, उसका नशा बोलता है। बाहर का नशा तो आप समझते हैं, जो शराब, गांजा आदि से लेकर बीड़ी—सिगरेट और चाय तक का होता है, उसके वश में होकर भी इन्सान अपनी स्वाभाविकता खो देता है। फिर आन्तरिक उन्मत्तता— दर्शन मोह का नशा तो प्रगाढ़ ही होता है, जिसके कारण आत्मा अपने ही स्वरूप को भूल जाती है। यह द्रव्य और भाव नशा समझपूर्वक हटाना चाहिए, ताकि सम्यक्—दर्शन की उपलब्धि हो सके।

आत्मा जब सहज स्वाभाविक स्थिति में आती है, तब वह सम्यक्—दर्शन की स्थिति पर आरूढ़ होकर परमात्म—दर्शन की ओर अग्रसर बनती है। बाहर का नशा छोड़ने के बारे में भी मैं अक्सर कहा करता हूँ, क्योंकि बीड़ी—सिगरेट तक का दुर्व्यसन इतना फैला हुआ है कि जैसे इसमें कोई दोष ही नहीं हो। बाहर के छोटे से छोटे नशे को छोड़ने की कला जब तक नहीं आयेगी, तो अन्दर का नशा कैसे

दूर कर सकोगे ? मिथ्यात्व मोह का नशा अन्दर और बाहर दोनों को बिगाड़ता है। इसलिए पहले सभी तरह का नशा हटाइए, जीवन के प्रवाह में स्वाभाविकता लाइए, बुद्धि को सन्तुलित कीजिए और फिर देखिए कि भीतर और बाहर सभी ओर समता का कैसा सुन्दर वातावरण प्रसारित हो जाता है।

ekg t; Isvkr t;

जो मदिरा रूप इस मोह को जीत लेता है, वह अपनी आत्मा को भी जीत लेता है अर्थात् आत्मा के सारे आवरणों को हटा देता है। आठों कर्मों में मोह ही महाबली कर्म होता है, अतः यदि इसे ढीला कर दिया, तो अन्य सभी कर्म स्वतः ही हिलने लग जाते हैं। बाहर के और अन्दर के नशे को मिटाना— यह प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का पहला पुरुषार्थ होना चाहिए।



विज्ञान, वास्तविकता एवं कर्म-बंध

*Yù iHqft u rqt eq vlar# js-----***

पद्म प्रभु की प्रार्थना का यह मंगलाचरण नित्य रूप में है। प्रार्थना की पंक्तियों के माध्यम से परमात्मा का विराट् रूप इस आत्मा के सामने उपस्थित होता है कि उस विराट् रूप को वैचारिक दृष्टि से वह अपने जीवन में स्थान दे। इस विराट् रूप की कल्पना इसी आत्मा के कोने में छिपी हुई है, किन्तु परमात्म-स्वरूप का निमित्त सामने रहे, तो वह कल्पना एक दिन साकार रूप ले सकती है। इसी प्रार्थना से आत्मा की इस विराट् शक्ति का प्रादुर्भाव संभव है। परमात्मा और आत्मा के बीच का यह जो अन्तर वर्तमान में है, उसे ही दूर करने की दृष्टि प्रार्थना देती है।

ज्ञानीजन का कथन है कि आत्मा और परमात्मा का यह अन्तर कर्म विपाक की दृष्टि से है। यह कर्म-तत्त्व एक विलक्षण तत्त्व है। कर्म- सिद्धान्त के विषय में अनेक व्यक्तियों द्वारा चिन्तन हुआ है तथा कई दार्शनिक धाराओं में इस सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। परन्तु वीतराग प्ररूपित कर्म-सिद्धान्त के रहस्य को समझनेवाले विरले ही व्यक्ति होते हैं। कर्म-तत्त्व- यह चेतन और जड़ के बीच

का एक तत्व है। आत्मा अपने मूल रूप में सिद्ध परमात्मा के रूप में आदर्श दृष्टि से विद्यमान है। उससे सर्वथा भिन्न परमाणु तत्व भी अपने आपके अन्दर शुद्ध रूप में रहा हुआ है। किन्तु इन परमाणु स्कंधों का एक पिंड बनता है, जो इस आत्मा के साथ संयुक्त होकर सजीव शरीर की संज्ञा पाता है।

यह जड़ और चेतन का संयोग सारी सृष्टि की रचना को एक आश्चर्यमय रूपक के रूप में प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिक लोग इस रचना के रहस्यों की खोज कर रहे हैं। डॉ. खुराना ने बहुत समय तक अनुसंधान किया और वे खोज के एक निर्णय तक पहुँचे। किन्तु वह खोज अन्तिम नहीं है—आगे अभी अज्ञात क्षेत्र बहुत लम्बा—चौड़ा है। एलोपैथिक पद्धति से शारीरिक चिकित्सा की जाती है तथा शल्य क्रिया से अंगों का परिवर्तन तथा नये अंगों का आरोपण भी होने लगा है, किन्तु फिर भी यह बात नहीं है कि वैज्ञानिक लोग शरीर के सम्पूर्ण रहस्यों को जान गये हों।

'kij' foKku vlt vlt&Kku

वैज्ञानिक अभी अपनी खोज के निर्णायक दौर में भी नहीं पहुँच पाये हैं। उनकी खोज अभी चालू है। उनकी शरीर विज्ञान की इस खोज में भी जब तक चैतन्य शक्ति युक्त प्रकृति काम करती है, तब तो उनको सफलता मिलती है, वरना उनके सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। यही कारण है कि शरीर—विज्ञान की खोज तब तक अधूरी ही रहेगी, जब तक आत्मज्ञान के रहस्यों का अनुभव नहीं किया जायेगा। आत्मज्ञान की सूक्ष्मता के प्रकाश में शरीर—विज्ञान के विविध रहस्यों की जानकारी सरलतापूर्वक हो सकेगी और इसके लिए कर्मों के विपाक तथा कर्मों के बंध एवं उदय की प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। कर्म—सिद्धान्त, शरीर—विज्ञान एवं आत्मज्ञान के सभी सम्बन्धों एवं प्रभावी को स्पष्टतापूर्वक सामने रख देता है।

किन्तु वर्तमान विचारणा की एक विडम्बना यह है कि इस सारी परिस्थिति का अध्ययन किये बिना ही आज के विचारक एवं युवावर्ग यह मानकर बैठ जाते हैं कि जो वैज्ञानिक कहे— वही सत्य तथा उससे अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं है। ऐसा हठवादी जो आग्रह है, वह मनुष्य को सत्य से दूर फेंकता है, अतः ऐसे दुराग्रह में आज संशोधन की आवश्यकता है। जो ऊँचे वैज्ञानिक हैं, वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अभी तक उनकी प्रगति काफी अधूरी है तथा उनकी खोज का क्षेत्र बहुत अछूता पड़ा है। जो कुछ खोजा गया है, उसे अभी प्राथमिक से अधिक नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में अधूरे तथ्यों को पूर्ण सत्य की संज्ञा दे देना स्वयं विवेकशील वैज्ञानिक भी उचित नहीं मानेंगे। अतः वैज्ञानिकों की खोजों का आत्मज्ञान से सम्बन्धित कर्म—सिद्धान्त आदि अन्य सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा, तभी प्रयोगात्मक स्थिति भी आगे बढ़ सकेगी।

deZfl) Mr dsifjix; ea

आपको ऐसा लगता होगा कि कभी—कभी मैं आपको इन वैज्ञानिक तथ्यों के साथ उलझन में डालने की कोशिश करता हूँ, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हकीकत में मैं इनको सुलझाने की कोशिश कर रहा हूँ। आप वैज्ञानिक तथ्यों को कर्म—सिद्धान्त की तुलना में परखिए— उसका अध्ययन और मनन कीजिए, फिर कुछ—कुछ स्पष्टीकरण सामने आयेगा कि वैज्ञानिक चरण भी घूम—फिर कर उधर ही बढ़ रहे हैं जिधर केवलज्ञानी विचरण कर चुके हैं और अपने ज्ञान का आलोक इस विश्व को प्रदान कर चुके हैं।

विश्व में जितनी भी दार्शनिक विचारधाराएँ हैं, उनमें न्यूनाधिक—मात्रा में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु जिस वैज्ञानिक पुष्टता से उसका विश्लेषण जैन दर्शन ने किया है, उतनी गम्भीरता और स्पष्टता अन्यत्र नहीं मिलेगी। इस कर्म सिद्धान्त का मानना है कि

आत्मा जब शुद्ध अवस्था में होती है, तब उसके कर्म बंध नहीं होता है। दूसरी ओर जड़ भी अपनी शुद्ध अवस्था में चेतन से सर्वथा पृथक् होता है। अनादिकाल से संसारी आत्मा जड़-चेतन के संयोग पर चल रही है, जिससे अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उसके साथ कर्म-बन्ध का अवसर आता रहता है।

कर्म का रूप तब पैदा होता है, जब जड़ का संयोग आत्मा के साथ होता है। पहले वे कार्मण वर्गणा के पुद्गल रूप होते हैं। जब वे आत्मा के साथ बंधते हैं और सजीवता ग्रहण करते हैं, तब कर्म कहलाते हैं। इसीलिए जिन आत्माओं के साथ कर्म लगे हुए हैं और उन कर्मों के साथ जो शरीर है, वह सजीव शरीर कहलाता है।

vt lo dleZk oxZkk dk l t lo : i

अब इसमें प्रश्न यह आ सकता है कि अजीव कार्मण वर्गणा के पुद्गल सजीव कैसे बन जाते हैं ? उत्तर यह है कि तदनुरूप कार्य से कर्म आये और आत्मा के साथ संयुक्त होकर सजीव बन गये। इसका प्रमाण भगवती-सूत्र में दिया गया है। गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया— किं रुवे आया, अरुवे आया ? तो प्रत्युत्तर में भगवान ने कहा— 'रुवे वि आया, अरुवे आया।' अर्थात् आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है। यह सापेक्ष कथन है। अपेक्षा यह है कि सब ही शरीर हैं, जो संसारी आत्माएँ हैं और यदि सजीव शरीर को कोई सर्वथा जड़ कहे, तो ऐसा कहनेवाले का असत्य लगता है। तो प्रभु ने इस शरीर-अवस्था की स्थिति को अपेक्षित दृष्टि से रूपी चैतन्य कहा है कि जितने परमाणु आत्मा के साथ आकर लगे और शरीर रूप में रासायनिक प्रक्रिया में संयुक्त हुए, तो उन्होंने सजीव रूप ग्रहण कर लिया।

यहाँ आप यह सोच सकते हैं कि अजीव तत्व सजीव में कैसे और सजीव तत्व अजीव में कैसे ? इसमें समझने की बात यह है कि

जब अजीव तत्व सजीव के साथ हुआ, तो उस वक्त उसकी पर्याय का चैतन्य शक्ति की पर्याय के साथ मिश्रण होने से वह सजीव कहलाने लगा। शास्त्रीय दृष्टि से यह नहीं है कि सर्वथा चैतन्य जड़ और जड़ चैतन्य हो गया। जड़ सदा जड़ और चैतन्य सदा चैतन्य रहेगा, परन्तु पर्याय की दृष्टि से उसके संयोग के साथ रूपी आत्मा होने का भान पड़ता है। यह भी ध्यान रखें कि संयोग सम्मिलन नहीं होता। शरीर पर वस्त्र धारण किया है— यह संयोग है, किन्तु वस्त्र शरीर रूप में एकमेक नहीं हो जाता। संयोगी होकर भी अस्तित्व पृथक्-पृथक् रहता है।

deZds vuq i oKkud [kt

बताया जाता है कि वैज्ञानिकों ने आजकल एक विषाणु की खोज की है, जो कई प्रकार का होता है। उसके लिए वैज्ञानिकों का कथन है कि वे अणु निर्जीव होते हैं। किन्तु वे मानते हैं कि जब विषाणु सजीव कोशिका के अन्दर प्रवेश करते हैं, तो वे सजीव बन जाते हैं। यदि वे ही विषाणु निर्जीव कोशिका में रखे जाते हैं, तो वे निर्जीव ही रहते हैं। इसमें उनका तात्पर्य यह है कि ये विषाणु दोनों तत्वों को जोड़नेवाले भी बनते हैं। सजीव कोशिका और निर्जीव कोशिका—ये शब्द वैज्ञानिक क्षेत्र के हैं। शास्त्रीय दृष्टि से कोशिका एक स्कंध कहा जाता है, जो सजीव और निर्जीव— दो तरह का बनता है। जैसे विज्ञान इन्हें जोड़ने में विषाणु की कल्पना करता है और विषाणु के आवरण प्रोटीन आदि के मानता है, वैसे ही कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से इनके स्थान पर मैं लेश्या को जोड़ रहा हूँ, जो कार्मण वर्गणा के रूप में निर्जीव थी, किन्तु जब आत्मा के साथ वह संयुक्त हुई तो सजीव बन जाती है। जब वे लेश्यागत परिणाम पुनः आत्मा से विलग होते हैं, तो पुनः वे निर्जीव बन जाते हैं।

कर्म—सिद्धान्त की इस परिपक्वता के साथ वैज्ञानिक खोज की आप तुलना करेंगे, तो प्रतीत होगा कि यह खोज अभी तक बहुत

अपरिपक्व है। वैज्ञानिक लोग इतनी खोजों के बाद भी अनखोजा एक तत्व ऐसा मान रहे हैं कि वह सजीव और निर्जीव कोशिका के साथ जुड़ने का काम कर रहा है। इस स्थान पर जब लेश्या की वर्गणा को इसका माध्यम मानकर सोचेंगे, तो इस जुड़नेवाले तत्व के सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी होने लगेगी। कषायों की स्थिति पर भी इस संदर्भ में चिन्तन करना पड़ेगा। तब स्पष्ट होगा कि जैन-दर्शन के इस कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि कितनी पैनी और सूक्ष्म रही है। इस दृष्टि तक भी अपने प्रयोगात्मक ढंग से पहुँचने में अभी तक वैज्ञानिकों को बहुत समय लगेगा।

विज्ञान शरीर के माध्यम से चल रहा है, उसका भौतिक दृष्टिकोण अधिक रहा हुआ है और उसी के जरिये सत्य की खोज की जाती है। उसमें विचार और अनुभूति तथा चिन्तन को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया जाता है। किन्तु वैज्ञानिक यदि इस कर्म-सिद्धान्त को आधार बिन्दु बनाकर अपने प्रयोगों की श्रृंखला को चलायें, तो वे सर्वांगीण सत्य की ओर अधिक जल्दी और अधिक आसानी से पहुँच सकेंगे।

ekgn 'llk l s vll&folefr

कर्म-सिद्धान्त के वस्तु विषय एवं कर्मों के बन्ध तथा उदय की प्रक्रिया को इस प्रकार जब वैज्ञानिक खोजों की तुलना में रखकर चिन्तन किया जायेगा, तो यह स्पष्ट होगा कि यह सिद्धान्त पुराना भले हो, किन्तु शाश्वत महत्व का है तथा वैज्ञानिक खोजों को भी घूम-फिरकर इसी धुरि पर स्थित होना पड़ेगा। वनस्पति एवं शब्द आदि की वैज्ञानिक खोजों ने सिद्ध कर दिया कि इनके बारे में जो पुराना शास्त्रीय विवरण व विश्लेषण था, वह बिल्कुल सत्य था। इसी दृष्टिकोण से कर्म-सिद्धान्त को समझकर यदि आपको वर्तमान जीवन के सुख-दुःख का लेखा-जोखा देखना है तो कर्म-विपाक एवं उसके फल का ही अध्ययन करना होगा।

आठों कर्मों में बलवान कर्म- मोहनीय-कर्म को माना गया है तथा इसके भेदों में दर्शनमोह एवं चारित्रमोह का विवरण देते हुए शास्त्रों में बताया गया है कि दर्शन मोह से आत्मा स्वयं से ही विस्मृत हो जाती है। यह कर्म आत्मा को अपने ही हिताहित का भान नहीं होने देता है। दर्शन-मोहनीय के उदय से आत्मा का विचार-प्रवाह विपरीत धारा में बहने लगता है। किन्तु दर्शनमोह कर्म का जब क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा को हेय (त्यागने लायक), ज्ञेय (जानने लायक) और उपादेय (ग्रहण करने लायक) तत्वों का ज्ञान होता है।

किन्तु फिर भी वह आत्मा आचरण-मार्ग पर त्याग की दृष्टि से आगे नहीं बढ़ सकती है। इसके लिए चारित्र मोह कर्म का भी क्षय करना होगा। किसी व्यक्ति के द्वारा आध्यात्मिक जानकारी रखना तथा शास्त्रों का अभ्यास करना एक बात है, तो उन पर आचरण करना एवं त्याग ग्रहण करना दूसरी बात है। कई लोग किन्हीं को आरोपित करते हुए कह देते हैं कि अमुक इतना ज्ञानी है, फिर भी अपने ज्ञान को वह अपने ही जीवन में उतारता नहीं है, तो इसके पीछे यह तथ्य होता है कि दर्शन मोह कर्म के क्षय से हेय, ज्ञेय उपादेय का ज्ञान होता है, सच्ची जानकारी हो जाती है, किन्तु चारित्र मोह कर्म के क्षय के बिना आचरण की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। किसी पर यह आरोप लगा देना कि आचरण शुद्ध नहीं, तो सही जानकारी किस काम की- यह तो आसान है, किन्तु उसके सही कारणों का ज्ञान बिना अनुसंधान के संभव नहीं होता है। कर्म- सिद्धान्त ऐसे प्रत्येक कारण का अनुसंधान करने की प्रेरणा ही नहीं देता, बल्कि उस अनुसंधान का स्पष्ट मार्ग भी प्रदर्शित करता है।

pkj = elg vkj vkpj. k dh voLFkk

कर्म सिद्धान्त की शास्त्रीय दृष्टि इस आरोप की पृष्ठभूमि के कारण को सामने लाती है कि सही ज्ञान रखते हुए भी चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से वह व्यक्ति आचरण के धरातल पर कार्यरत

नहीं हो सकता है। त्याग का महत्व जानते हुए भी वह त्याग-व्रत धारण नहीं कर सकता है। दर्शन-मोहनीय के क्षय से श्रद्धा और आस्था सुधर जाती है, किन्तु आचरण की शक्ति चारित्र मोहनीय के क्षय से ही प्राप्त होती है।

विचारणीय है कि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय किस रूप में आता है ? उस उदय को किस प्रकार हम समझ सकते हैं ? चारित्र मोह कर्म की अवस्था क्या हम देख सकते हैं, आदि ? इस विषय में सोचते हैं और एक अपेक्षा से सोचते हैं कि चारित्र मोह कर्म है या नहीं तथा इस कर्म का उदय और उपार्जन कैसा होता है, तो शास्त्र की दृष्टि यह है कि कषाय के उदय से आत्मा में जो तीव्र परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन्हीं तीव्र परिणामों से चारित्र मोह कर्म का बंधन होता है। कषायगत परिणामों का अभिप्राय उन परिणामों से होता है, जो क्रोध, मान, माया, लोभ की विविध वृत्तियों से पैदा होते हैं। ये सब काषायिक वृत्तियाँ कहलाती हैं। कष् का अर्थ होता है दंड पाना और आय का अर्थ है लाभ यानि जिससे दंड अर्जित हो, वह कषाय। कषाय की वृत्ति जब आत्मा के साथ लगती है, तब चारित्र मोह कर्म बंधता है।

एक उदाहरण से इसको समझिए। एक व्यक्ति ने कटु शब्दों का प्रयोग करके दूसरे व्यक्ति को उत्तेजित बना दिया। वह इतना उत्तेजित हो गया कि अपना आपा ही भूल गया और अंटशंट बकने लगा, तो मानिए कि वह चारित्र मोह में है। वही मोह उत्तेजना दिलानेवाले में भी है। उत्तेजना देनेवाला स्वयं गुस्सा न भी करे, तब भी वह सामनेवाले को क्रोधित बना देता है। दूसरा क्रोधित हुआ, तो उसके परिणाम तीव्रतर बने। क्रोध में आत्मा हिताहित या कृत्याकृत्य का भान भूल जाती है। क्रोध में ही कोई औरों का नुकसान कर डालता है, किन्तु उससे अपना भी कम नुकसान नहीं करता। कषाय की वृत्ति जब उग्र होती है, तब क्रोध तो निमित्त ढूँढ़ता है और ज्यों ही निमित्त मिलता है, वह भड़क उठता है।

इस प्रकार चारित्र मोह का उदय मनुष्य के मन में छिपा रहता है और अवसर मिलते ही उग्र रूप धारण कर लेता है। आचरण की अवस्था इसी चारित्र मोह के उदय एवं उपार्जन की स्थिति पर चलती है।

pkj = elg dk mn; vkf cak

मानव की आचरण दशा को चलानेवाला चारित्र मोह कर्म बना हुआ रहता है। कोई-कोई लोग इतने तुनकमिजाजी दिखायी देते हैं कि जैसे उसमें सहनशीलता का नामोनिशान ही न बचा हो। कोई नीति से कुछ कह देता है, जिसे वह अच्छी सीख के रूप में देखता है, मगर सहन नहीं कर पाने के कारण उत्तेजित हो जाता है और लड़ने लग जाता है कि मुझे क्यों टोक दिया ? इस तरह अपने आपे को खो देने का मतलब है कि वह चारित्र मोह कर्म का उपार्जन कर रहा है। यह तुनकमिजाजी आजकल बहुत ज्यादा दिखायी देती है, जिसका कारण चारित्र मोह कर्म का बंध और उदय में निकाचित रूप से आना है।

प्राचीन काल में लोगों का लक्ष्य चारित्र मोह कर्म के क्षय की ओर अधिक था तथा वे इसके बंध के कारणों से दूर रहते थे। अतः वे भद्रिक परिणामी भी बहुत ज्यादा थे। उसका परिणाम यह आता था कि उन्हें उचित छोड़कर कभी अनुचित भी कुछ दिया जाता था, तो वे इस प्रकार उत्तेजित नहीं हो जाते थे। इसी कारण उनकी आचरण-क्षमता एवं त्याग वृत्ति भी प्रबल होती थी। वे लोग कषाय वृत्ति में उलझते नहीं थे और सरल वृत्ति से परस्पर व्यवहार किया करते थे।

किन्तु आधुनिक युग में आचरण और व्यवहार की अवस्था जिस विपरीत दिशा में जा रही है, उससे चारित्र मोह कर्म के उदय और बंध की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान किया जा सकता है। आज के मानव की बुद्धि का विकास हुआ है, तो वह छोटी से छोटी बातों में भी संवेदनशील बनने लग गया है, जिससे वह सहज ही में कषायों

के जाल में उलझकर चारित्र मोह कर्म का बंध कर लेता है। मान और अपमान का भूत जैसे प्रत्येक व्यक्ति के सिर पर सवार हो रहा है और कई बार तो इसकी भ्रान्त धारणा में ही लोग उत्तेजित हो जाते हैं। इस प्रकार जब कोई कषाय युक्त होता है, तो निमित्त पाते ही कषाय वृत्ति भड़क जाती है। क्रोध या किसी भी अन्य कषाय वृत्ति के उभरकर प्रकट होने से वह स्वयं सन्तप्त अलग होता है तथा चारित्र मोह कर्म का उपार्जन भी कर लेता है।

mukt uk dk ikxyiu

शास्त्रीय दृष्टि स्पष्ट कहती है कि चारित्र व दर्शन मोह कर्म के उदय एवं बंध की प्रक्रिया में आत्मा इतनी बेभान हो जाती है कि एक प्रकार से उत्तेजना का पागलपन उस पर सवार रहता है। यह उत्तेजना विभिन्न कषाय वृत्तियों की होती है। जब एक व्यक्ति क्रोध से उत्तेजित होता है, तो उसे यह भान नहीं रहता कि इस उत्तेजना से और कर्मों का बंध होगा तथा उसकी आत्मा पर आवरण की जकड़ और मजबूत हो जायेगी। वह तो अभिमान—मद से भर उठता है और सोचता है कि सामनेवाले ने उसका अपमान कर दिया है, तो उसको वह मजा चखाकर ही मानेगा। किन्तु इस उत्तेजना में उसको यह ध्यान में नहीं आता कि इस अभिमान में तो उसकी स्वयं की आत्मा का कई गुना अपमान हो रहा है, क्योंकि दूसरे को उत्तेजना लायें, उससे पहले तो स्वयं को उत्तेजना आती है और उससे अपनी ही आत्मा कर्म बंध करती है, जिसका फल स्वयं को ही भुगतना पड़ेगा।

इसके लिए एक रूपक दे रहा हूँ। एक वन में एक वनराज विकराल रूप धारण किये हुए स्वतंत्रता से विचरण कर रहा था, तो कुछ शिकारियों ने सोचा कि इस सिंह को पकड़ लेना चाहिए। अनेक उपायों को प्रयोग में लाकर उन्होंने उसे पकड़कर पिंजरे में कैद कर लिया। शिकारी तो बाद में चले गये, किन्तु सिंह पिंजरे में बन्द होकर छटपटाने लगा, भूख से और पीड़ा से। तभी संयोग से एक व्यक्ति

उधर से निकल रहा था, उसे सिंह ने अपनी लाचारी बताकर मुक्त करने का संकेत किया। उस व्यक्ति को दया आ गयी, फिर भी यह शर्त तय करके कि वह मुक्त होकर उसी पर आक्रमण नहीं करेगा, उस सिंह को उसने मुक्त कर दिया। लेकिन सिंह तो भूखा था, वह अपने उस उपकारी पर ही लपका, तो वह व्यक्ति एक वृक्ष पर चढ़ गया और उसने अपनी जान बचायी। तभी एक लोमड़ी उधर आ गयी। उस व्यक्ति ने उसे सारी बात बताकर सिंह से न्याय कराने की माँग की। लोमड़ी चालाक जानवर होती है। उसने सिंह से सारी बात की और बनते हुए कहा कि यह हो ही नहीं सकता कि सिंहराज पिंजरे में थे। सिंह उत्तेजित हो गया, सो झट से उसने बताया कि नहीं, था तो वह पिंजरे में ही और यह बताने के लिए वह तुरन्त पिंजरे में घुसा। लोमड़ी के इशारे पर उस व्यक्ति ने तुरन्त उस पिंजरे को वापिस बन्द कर दिया।

यह एक शिक्षाप्रद रूपक है। सोचिए कि सिंह वापिस पिंजरे में बलात् बन्द हुआ या स्वेच्छा से। सिंह ने जैसे स्वेच्छा से ही पिंजरे में बन्द होकर बन्धन वापिस ले लिया, वैसे ही यह आत्मा अपनी उत्तेजना के वश में होकर कर्म बन्ध के पिंजरे में बार-बार बन्द रहती है और वह भी स्वेच्छा से-अपनी ही आत्म-विस्मृति से।

vkt plj= cy dk iru D; la |

यह चारित्र मोह कर्म अपने बंध और उदय में जितना प्रबल बनता है, व्यक्तियों का चारित्र उतना ही गिरता है। आचरण की उनकी गंभीरता घटती है और वे बार-बार उत्तेजनावश आचरणहीन होकर इस कर्म बंध के कारणों में उलझते जाते हैं। आज चारित्र बल का जो अधिकांशतः पतन देखने को मिलता है, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार इस पतन के इस प्रकार के ही कारण हैं। आज अधिकतर व्यक्ति स्वयं क्रोध करते हैं और दूसरों को क्रोधित बनाते हैं, स्वयं कषायों के घेरे में बन्द होते हैं और दूसरों को भी उसमें खींचते हैं

तथा इस प्रकार स्वयं दुःख पाते हैं तथा दूसरों को भी दुःखित बनाते हैं। इस तरह दुःख का घनत्व बढ़ रहा है और चारित्र बल का पतन हो रहा है।

यह मोह कर्म महाबली और महाभयंकर होता है। यदि आप वर्तमान आचरण निष्ठा में अभाव के कारण ढूँढते हैं, तो विदित होगा कि आज के लोगों की बुद्धि जितनी पैनी हुई है, उतनी ही वह आत्माभिमुखी होने की अपेक्षा क्षुद्र बातों में अधिक उलझ गयी है। छोटी-छोटी बातों को लेकर मानापमान के झगड़े तथा पदलिप्सा के विवाद खड़े हो जाते हैं तथा उनके पीछे कषाय वृत्तियों का कुचक्र चलता है। इस प्रकार मोह कर्म का बंध अधिकाधिक जटिल बनता जाता है तथा चारित्र बल और आचरण की क्षमता निरन्तर घटती जाती है। इस कर्म बन्ध की कम से कम अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है तथा उस बंध का फल भुगते बिना छुटकारा नहीं होता।

च) ds fodkl ds l k t hou&fodkl ughs

वैचारिक दृष्टि से आज की चारित्र-भ्रष्टता के कारणों की खोज करेंगे, तो स्पष्ट होगा कि इस युग में मनुष्य ने बुद्धि का तो सूक्ष्म रीति से विकास किया है, किन्तु उसके साथ-साथ उसका सदुपयोग करके उसने अपने जीवन का विकास नहीं किया है। सूक्ष्म बुद्धि यदि अपने स्वभाव को संतुलित बनाती, अपना रुख शुभ और शुद्ध वृत्तियों की ओर मोड़ती, तो निश्चय ही जीवन भी उतना ही सूक्ष्म विकास सम्पादित कर सकता था। वैसी अवस्था में संसार में चारित्र-निर्माण की होड़ मचती तथा मोह कर्म के क्षय की ओर सभी का पुरुषार्थ सक्रिय रहता।

किन्तु स्थिति कुछ विपरीत दिशा में चली। एक ओर बुद्धि का सूक्ष्म विकास हुआ— सोचने की शक्ति पैनी बनी, परन्तु दूसरी ओर जीवन के सच्चे विकास की ओर सामान्य रुचि का निर्माण नहीं हुआ, जिससे उस विकसित बुद्धि का अधिकतर दुरुपयोग ही होने लगा।

वह बुद्धि पाप-बुद्धि अधिक बनने लगी। गति तो बुद्धि की पैनी बन गयी, मगर वह अपनी पैनी गति से कर्म बन्ध की दिशा में आगे बढ़ने लगी, जिससे चारित्र-भ्रष्टता का संकट गहरा होता जा रहा है।

वर्तमान परिस्थितियों पर भी कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में गहन चिन्तन किया जायेगा, तो इसी परिणाम पर आना होगा कि आज मनुष्यों की वृत्तियों में जो विकार पनप रहे हैं, उन्हें घटानेवाला वातावरण बनाया जाये। राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, नैतिक आदि सारी अवस्थाओं में एक स्वस्थ सन्तुलन लाकर मोह कर्म के उदय में भी एक धीरतापूर्ण गंभीरता आये, तो इस कर्म के बंध की ओर भी लोग उत्तेजनावश न बहें। आज जो मुर्गी से अंडा तथा अंडे से मुर्गी की तरह जनमानस की गति चल रही है, उसे नये दिशा-दान की त्वरित आवश्यकता है। कर्म सिद्धान्त के मर्म को समझकर यदि स्वभाव एवं वृत्तियों को एक नया मोड़ दिया जाये, तो मोह कर्म के क्षय की ओर लोगों की रुचि बढ़ाकर ज्ञान एवं चारित्र बल का पुनः विकास किया जा सकता है। जब इस प्रकार एक बार जीवन विकास का क्रम बन जायेगा, तो फिर यह प्राप्त बुद्धि का सूक्ष्म विकास तेजी से विकासोन्मुख जीवन को विकास की अमित ऊँचाइयों तक अवश्य ही पहुँचा सकेगा।

, d: irk , oal ekurk dk Q ogkj

सच्चे जीवन विकास के साथ ही एकरूपता एवं समानता का व्यवहार विकसित होता है। यह व्यवहार पक्षपातहीन होने से क्षणिक रूप से किसी को बुरा लग सकता है, किन्तु व्यापक रूप से सबको प्रियकारी होगा, क्योंकि यह समता के भावों से भरा हुआ होता है। समता जीवन का विलक्षण गुण है और जिसने इस गुण का अपने जीवन में विकास कर लिया, समझिए कि वह अपने जीवन में अलौकिकता की शक्ति को भर लेता है। व्यक्ति के जीवन में समता का विकास अपने ज्ञान एवं चारित्र के तेज के साथ समाज एवं संसार को

भी उस दिशा में प्रभावित करनेवाला बनता है। इस एकरूपता एवं समानता के व्यवहार को अपने जीवन में अधिकाधिक रूप से आज विकसित करने की प्रबल आवश्यकता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मोहनीय कर्म की कैद से अपनी आत्मा को जितना छुड़ा सकें, छुड़ाने का निरन्तर प्रयास करें, जिससे अन्य कर्मों के बंध भी ढीले हों। इस प्रयास से विषमताएँ हटेंगी और जीवन के सच्चे ज्ञान एवं आचरण में समता का विकास होगा तथा एकरूपता का सर्वप्रिय व्यवहार ढलेगा।



कर्म विपाक की प्रक्रिया का आधार

*“Yù iñqft u rñ eq vkr: js-----***

पद्म प्रभु परमात्मा के चरणों में प्रार्थना अर्पित करने का हेतु यह है कि इस प्रार्थना को निमित्त बनाने से संभव है, कभी आत्मा की अन्तःस्फुरणा अधिक वेग पकड़ ले और परमात्म-स्वरूप का वरण करने की दिशा में आगे बढ़ चले। प्रार्थना में जो यह भाव है कि आत्मा और परमात्मा के स्वरूपों के बीच में रहा हुआ अन्तर कैसे दूर हो- संभव है, बार-बार उसकी अभिव्यक्ति से कृति की ओर चरण क्रियाशील बनें। जब इस अन्तर को दूर करने की भावना बलवती बनेगी, तो फिर ध्यान उस ओर जायेगा कि इस अन्तर के कारण क्या हैं और कैसे उन कारणों को मिटाकर इस अन्तर को दूर किया जा सकेगा ?

आत्मा और परमात्मा के बीच जो अन्तर विद्यमान है, उसका कारण कर्म-विपाक है। कर्म-विपाक का अर्थ कर्म-फल होता है। तात्पर्य यह है कि किये हुए कर्म अपना फल देते हैं तथा आत्मा को वह फल भोगना होता है, तो प्रश्न पैदा होता है कि यह अन्तर कर्मों ने कैसे डाला? यदि कर्म ऐसा अंतर पैदा करने में स्वयं समर्थ होते

हैं, तो वे सिद्ध परमात्मा की आत्मा को भी फिर ऐसे ही अन्तर में खींच सकते हैं। यदि कर्मों की स्वतंत्र शक्ति स्वतः ही आत्मा की शक्तियों को ढकने में समर्थ होती, तो यह आत्मा कभी भी सिद्ध अवस्था को प्राप्त ही नहीं कर पाती।

परन्तु वास्तविकता यह है कि कर्मण वर्गणा के पुद्गल तो जड़ हैं और वे ही आत्मा के साथ संयुक्त होकर कर्म रूप धारण करके आत्मिक शक्तियों को आच्छादित बनाते हैं। यदि मूल स्थिति का चिन्तन किया जाये, तो विदित होगा कि यह अन्तर कर्मों ने नहीं डाला है। यह तो स्वयं आत्मा का ही उपार्जन है। आत्मा स्वयं अपने शुभाशुभ परिणामों तथा कर्मों से कर्मों का उपार्जन करती है तथा उस से अन्तर की न्यूनाधिकता बनती रहती है।

deh dk calh Qy vls ik

आत्मा यदि निश्चय करले, तो बाँधे गये कर्मों का फल समभाव से भुगतकर आगे बंध से विलग रहकर उनके क्षय का पुरुषार्थ कर सकती है। यह विज्ञान आपको वीतराग देव की वाणी से उपलब्ध हो सकेगा। पहले के बाँधे हुए कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नहीं है, किन्तु जब उन बद्ध कर्मों का उदय हो और वे फल देने लगें, तब शान्त भाव से एक ओर उस फल को सह लिया जाये, तो दूसरी ओर ऐसी कोई वृत्ति या प्रवृत्ति नहीं अपनायी जाये, जो फिर से जटिल कर्म-बंधन कराये। वैसी अवस्था में साधारण रूप से कर्मों के उपशम तथा क्षय की ओर आत्मा की क्रियाशील बढ़ेगी। यह आत्मा और परमात्मा के बीच के अन्तर को मिटाने की प्रक्रिया होगी। इस प्रक्रिया के विज्ञान के लिए वीतराग वाणी के गहन अध्ययन एवं चिन्तन की आवश्यकता है।

यदि वीतराग वाणी के मर्म को आपने पकड़ लिया, तो कर्मों के बंध, फल एवं क्षय का रहस्य ही समझ में आ जायेगा तथा उस पर अमल करना भी आसान हो जायेगा। आत्मा जिन-जिन परिणामों

के साथ जैसा-जैसा कार्य करने में अपनी शक्ति का अनुदान करती है, वैसा-वैसा उसका बन्धन होकर तदनुरूप फल की प्राप्ति होती है। वह फल जब उदय में आये, तो हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं, बल्कि समभाव से एवं निश्चल बुद्धि से यदि उस फल को स्वयं का ही कार्य मानकर सहन कर लिया, तो आगे का कर्म-बन्ध अवरुद्ध हो जायेगा, क्योंकि वैसी आत्मा ऐसे नये परिणामों से भी अपने चित्त को चंचल नहीं बनने देगी, जो नये कर्मों के बंधन के कारण बनें। यदि ऐसे पुरुषार्थ का आत्मा सदा ध्यान रखे, तो वह सारे कर्मों को नष्ट करके उपर्युक्त अन्तर को पूर्णतया मिटा सकती है।

t kuk dgk gS vly vllk t k dgk jgh gS ।

यह स्वयं आत्मा को चिन्तन करना है कि वस्तुतः उसको जाना किस दिशा में है और वह जा कहाँ रही है ? आत्मा की पर्याय बदलती है। इस वक्त यह मानव पर्याय में रही हुई है, तो किसी समय पशु पर्याय को भी धारण करती है। शुभाशुभ कर्मों के योग से चौरासी लाख योनियों में यह आत्मा भव-भ्रमण करती रहती है। किन्तु इस भ्रमण की कुंजी किसी और के पास नहीं, स्वयं आत्मा के पास ही है। जिस और वह सावधानी से या असावधानी से कुंजी घुमाती है, उस और ही वह चली जाती है। सावधानी से कुंजी तभी घुमायी जा सकती है, जब सन्मार्ग का ज्ञान और आचरण का बल साथ में हो। तब कुंजी सही दिशा में घूमती है, वरना असावधानी में जिन विपरीत दिशाओं में कुंजी घूमती है, जिस प्रकार के कर्मों का बंध होता है, उसका फल चाहे विवेक से या अविवेक से भोगना ही पड़ता है। यह फल भी विवेक से भोगा, तो फिर कर्म बन्ध का अवसर नहीं रहेगा तथा उस फल को भी यदि अविवेक से- आर्त व रौद्र ध्यानपूर्वक भोगा, तो कर्म बंध की श्रृंखला चलती ही जायेगी।

इस सारे विश्लेषण का अभिप्राय यह है कि इसकी रोशनी में आत्मा को विचार करना चाहिए कि उसको किधर किस दिशा में जाना है— किन वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से दूर हटना है तथा किन के नजदीक पहुँचना है ? यदि इन पर निर्णय लेने की क्षमता आत्मा में पैदा हो गयी, तब तो वह स्व-नियंत्रण की धारा को पकड़ लेगी, वरना अविचार में बहती हुई वह कहाँ—कहाँ टकराती हुई पतन के किस गह्वर में पहुँच जायेगी— इसका कोई अनुमान नहीं।

जीवन में अपने गन्तव्य का निश्चय इस आत्मा को करना है। यदि गन्तव्य की सही दिशा का निश्चय हो जाता है, तो फिर भटकाव की स्थिति बहुत करके टल जाती है। इस निश्चय के लिए ही सोचना होता है कि परिवार के समीप जाना है या परमात्मा के समीप ? मनुष्यता को अपनाना चाहते हैं या पशुता को ? देव-योनि से सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं अथवा नरक के मेहमान बनना चाहते हैं ? इस निश्चय के बाद यह देखना होता है कि जिन-जिन विचारों एवं आन्तरिक वृत्तियों में रमण किया जा रहा है, क्या वे उस निश्चय के अनुरूप हैं या नहीं ? कहाँ जाने का निश्चय है और तैयारी कहाँ जाने की हो रही है— इसका पता तभी चलेगा।

xlrQ LFku viusgh v/ku

इस योनि को छोड़कर कोई किस योनि के द्वार का उद्घाटन करेगा— इसका विज्ञान वह स्वयं प्राप्त कर सकता है। मनुष्य कभी सोचता है कि उसे अगले जन्म का ज्ञान कैसे हो ? परन्तु जिस योनि में उसको जाने का हो, उसका उपाय वह पहले ही सोच ले। मैं तो ऐसे मनुष्य से यही कहूँगा कि अगले जन्म का ज्ञान वह कर सकता है, बल्कि किस जन्म में वह जाना चाहता है— वह गन्तव्य स्थान उसके स्वयं के अधीन में होता है। वीतराग वाणी का यदि सच्चे हृदय से अवलम्बन ग्रहण किया, तो सारी वस्तुस्थिति के स्पष्ट होने में कोई विलम्ब नहीं लगेगा।

वीतराग देव ने किस योनि की प्राप्ति के क्या कारण बताये हैं, उन्हें देखना होगा। किस कर्म के आवरण से आत्मा किस गति में पहुँचती है तथा वे कर्म वह किस प्रकार से उपार्जन करती है— इसके स्पष्ट लक्षण शास्त्रकारों ने बताये हैं। अब उन्हीं लक्षणों को अपने जीवन के साथ घटाने का काम रह जाता है। कोई मनुष्य किन लक्षणों के साथ जीवन जी रहा है, उन्हें परखकर यदि वह अनुमान लगाये, तो पता चल जायेगा कि उसका भविष्य क्या है ? इसी आधार पर वह अपने भविष्य को अपने पराक्रम के आधार पर परिवर्तित भी कर सकता है। अच्छी गति के सम्बन्ध में समुचित पराक्रम किया जायेगा, तो वह श्रेष्ठ गति प्राप्त करेगा तथा आगे भी यत्नशील रहा, तो अपनी आत्मा का विकास करते हुए परमात्म-स्वरूप के समीप गति कर सकता है। भविष्य को स्वयं ने नहीं बनाया और भविष्य के हाथों का वह खिलौना बन गया, तो उस की गति विपरीत दिशा में गिरती हुई चली जाती है। किन्तु यह स्पष्ट है कि आत्मा चाहे उस नियंत्रण को सम्हालने के योग्य बन सके अथवा नहीं— यह दूसरी बात है, परन्तु गन्तव्य स्थान का निश्चय करना एवं उस ओर गति करना स्वयं आत्मा की ही अधीनता में होता है।

xir fdl vly dh t k s |

यहाँ गति—कर्म की दृष्टि से यदि चिन्तन किया जाये, तो एक सबसे ऊपर की गति है और दूसरी सबसे नीचे की गति। ऊर्ध्वगति का उपरी छोर परमात्म-स्वरूप है, जिसे उत्थान का चरम बिन्दु कह सकते हैं, तो निम्न गति नारकीय जीवन की ओर जाती है। जितना ऊर्ध्वगमन होता है, परमात्मा के समीप पहुँचना होता है, किन्तु जितना निम्न-गमन होता है, आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी उतनी बढ़ती जाती है।

गति के प्रेरक आठ कर्म माने गये हैं। इनमें से ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान शक्ति का दमन करनेवाला है, तो दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शन शक्ति को ढंक देता है। वेदनीय कर्म आत्मा को सुख दुःख

का अनुभव कराता है और मोहनीय कर्म आत्मा को मोहग्रस्त बनाकर अपने स्वरूप का भान भुला देता है। आठों कर्मों में ये चार घनघाती कर्म कहलाते हैं और इन में भी मोहनीय कर्म सारे ही कर्मों की जड़ों को हरी-भरी बनाये रखता है। इसे कर्मों की माता कह सकते हैं, जो सभी कर्मों का पोषण करता है। जहाँ मोह है, ममत्व है, वहाँ कौन-सा अवगुण आने से बचेगा ? गर्भस्थ शिशुओं की तरह मोहनीय कर्म अन्य सभी कर्मों का पोषण करता है। इसके साथ ही यह भी सही है कि यदि मोहनीय कर्म कमजोर पड़ता है, तो अन्य सभी कर्म स्वतः ही ढीले पड़ जाते हैं। अन्य सारे कर्मों का उतार-चढ़ाव इस कारण मोह कर्म की तारतम्यता पर आधारित रहता है। मोह की तारतम्यता पर ही आयु कर्म का बन्ध होता है। यदि बहु-आरम्भ और परिग्रह-मोह रखा, तो वह नरक का आयुष्य बाँधेगा। कोई बहुत आरम्भ करता है अथवा परिग्रह का संचय करता है, तो उसके पीछे भी मोह-दशा की प्रबलता ही होती है। यह मोह की दशा विचित्र रूप में आत्मा को घेरकर खड़ी है— इसके कई रंग हैं और कई दृश्य। रूप-परिवर्तन की दृष्टि से यह मोह दशा बहुरूपिये की तरह आत्मा को बार-बार भुलाये में डालती रहती है। बहुत आरम्भ करने की तीव्रता भी उसी में होती है, जिसको मोहनीय कर्म का उदय हो— उस दशा का पोषण करने के लिए ही मनुष्य चिन्तित बना रहता है कि उसे क्या-क्या तथा किस-किस प्रकार की भोग्य सामग्री चाहिए एवं उसे प्राप्त करने के लिए वह कैसे-कैसे उपाय करे ?

अतः गति किस ओर की जाये— यह आत्मा के लिए इन आठ कर्मों के कर्म-विपाक के सन्दर्भ में विचारणीय है। कर्म के लक्षणों को समझने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान में आत्मा किन लक्षणों में चल रही है और उनके अनुसार कर्मों के बंध कैसे होंगे तथा उनके फल का स्वरूप क्या होगा ? इस स्पष्टता के बाद आत्मा इस दिशा में अधिक सजगता के साथ सोच सकेगी कि गति किस ओर की जाये ?

गंभीर विचार नहीं किया जायेगा, तब तक आन्तरिक शक्ति के जागरण की संभावना नहीं मानी जा सकती है। पदार्थों के मोह से ही अति-आरंभ करने को मनुष्य तत्पर हो जाते हैं, बल्कि महारंभ तक के लिए उतारू हो जाते हैं। आन्तरिक शक्ति की अनुभूति इस पदार्थ-मोह से दूर हटने पर ही होती है, क्योंकि उसके बाद ही आत्मा को हिताहित का भान पैदा होता है।

vxkeh t bou dk uD'kk

पदार्थ-मोह एवं आन्तरिक शक्ति की अवस्थाओं के बीच में ही आगामी जीवन का नक्शा तैयार होता है। दर्पण में आप जैसे अपनी आकृति को देखते हैं और उसके रूप-स्वरूप को बनाने की चिन्ता करते हैं, उससे भी अधिक लगन से अपने मन को अपने ही परिणामों के दर्पण में शुद्ध बुद्धि से देखने का प्रयत्न करें, तो उसमें आगामी जीवन का प्रतिबिम्ब अवश्य ही दिखायी देगा। मन के दर्पण में यदि यह दिखे कि महारंभ की दशा आ गयी है, तीव्रता बढ़ी है, दूसरों को नष्ट करने की भावना चल रही है, आर्त और रौद्र ध्यान पनप रहा है तथा कर्मों का संचय हो रहा है, तो उस समय में आयुष्य का बंध होने पर नरक के आयुष्य को निश्चित माना जा सकता है। परिणामों की अत्यन्त निकाचित स्थिति हुई, तो वह सातवीं नरक में भी पहुँच सकता है।

अब सोचिए, कहाँ सिद्ध परमात्मा का स्वरूप और कहाँ सातवीं नरक का पतन ? किन्तु सातवीं नरक में जो जाना बनता है, वह प्रयत्न किसका है ? क्या इसी आत्मा के सिवाय किसी अन्य का तो वह प्रयत्न नहीं है ? निश्चय ही यह आत्मा का ही प्रयत्न होता है। जैसा स्वयं ने कर्म किया, वैसा फल भोगना ही पड़ता है। आपने तंदुल मच्छ का उल्लेख तो सुना ही होगा। इस मच्छ का शरीर चावल जितना होता है, किन्तु वह बड़े मच्छ की भौहों में रहता है। वह वहाँ से देखता है कि जब बड़ा मच्छ मुँह फाड़कर पानी में पड़ा

आराम करता है और पानी की हिलोरों के साथ कई मच्छ, मच्छियाँ उसके मुँह में आते-जाते रहते हैं, किन्तु वह बड़ा मच्छ उसी तरह पड़ा रहता है। तब तंदुल मच्छ सोचता है कि यह बड़ा मच्छ महामूर्ख है। इतनी भक्ष्य-सामग्री इसके मुँह में पहुँच रही है और यह इनका भक्षण नहीं करता है। वह छोटा मच्छ इस विचार से ही महारंभी बन जाता है कि यदि वह उसके स्थान पर होता, तो एक भी जन्तु को अपने मुँह से बाहर नहीं निकलने देता। इस विचार की तीव्रता में यदि उसके आयुष्य का बंध होता है, तो वह सातवीं नरक में पहुँच जाता है। मध्य लोक में रहकर वह परमात्मा के अधिक समीप था, लेकिन महारंभी बनकर और वह भी व्यर्थ में-परमात्मा से बहुत दूर चला जाता है। अतः जैसी जिसकी भावना बनती है, वैसा ही उसके आगामी जीवन का नक्शा तैयार हो जाता है।

eu&ca&k v&k& ek&k dk dlj. k

इस नक्शे को अच्छा बनाना या बुरा बनाना- यह मन पर निर्भर करता है। इसी कारण मन को बन्ध या मोक्ष का कारण माना है। मन नियंत्रित न हो, तो वह कर्मों का बंध करा सकता है और यदि वह नियंत्रण तथा विवेक से काम करे, तो अडिग बनकर कर्मों के क्षय के लिए भी क्रियाशील बन सकता है। इसी मन के द्वारा मानव क्रूर भी बन सकता है, तो मृदु भी बन सकता है। कई लोग शंका उठाते हैं कि यदि मन ही सब कुछ हो गया और मन में पाप नहीं रखें तथा काया कुछ भी करे, तब भी कोई बात नहीं। यह उनकी अनुभवहीन शंका होती है। मन ही कार्य को प्रेरित करता है। मन में पाप नहीं, तो कार्य में पाप आ कैसे सकेगा ?

मन की भी तीन श्रेणियाँ मानी गयी हैं। जो तरह-तरह के मन में संकल्प-विकल्प उठते हैं और भावनाओं की लहरें चलती हैं, उन सबका वर्गीकरण तीन भागों में किया जा सकता है। मानव-मन में जब मलिन भाव आता है, द्वेष और कषाय युक्त- किन्तु यदि उसमें

तीव्रता नहीं है, तो वह इतना दुर्बल भाव होता है, जो वाणी में भी परिणत नहीं हो पाता है। इसलिए वैसे मन की स्थिति जघन्य कर्म का बंध करती है। दूसरे, मन के भावों में मलिन भावों की इतनी तीव्रता आयी कि वह वचन में परिणत हो गयी, किन्तु कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकी यानि उसमें काया का साधन काम नहीं आया, तो यह पहले की स्थिति से तीव्रतर स्थिति हुई। जहाँ वह तीव्रता इतनी बढ़ जाये कि मन, वचन और काया के साधनों को भी प्रेरित कर दे, तो वह तीव्रतम स्थिति होती है तथा चिकने कर्मों का उस स्थिति में बंध होता है। इन स्थितियों में परिणामों की तीव्रता भी देखनी होगी। यदि अत्यन्त निकाचित परिणाम हैं, तो नरक गति का आयुष्य बंध जाता है अन्यथा उससे ऊपर की गतियों का।

प्रश्न यह है कि विचारों की तीव्रता वचन और काया द्वारा कार्यान्वित करा दी जाये— यह शक्ति मन की होती है। अशुभ भावना की अति के साथ इस तरह मन नरक में भी ले जाता है, तो शुभ भावना के साथ वह आत्मा को ऊर्ध्वगामी भी बना सकता है। मन कर्म जुड़ाता भी है, तो कर्म तुड़ाता भी है तथा उसी के आधार पर नरक से लेकर स्वर्ग एवं मोक्ष तक भी पहुँचाता है।

Hloa dk l d kj fujkyk gkrk gS

आपने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का आख्यान तो सुना ही होगा। वे महात्मा ध्यानस्थ खड़े थे। तभी मगध—सम्राट श्रेणिक के दो अनुचर—सुमुख और दुर्मुख मार्ग व्यवस्था के निमित्त से उधर से निकले, क्योंकि सम्राट को भगवान के समवशरण में जाना था। ध्यान—मुद्रा में उन महात्मा को देखकर सुमुख ने कहा— अहो! ये कैसे दिव्य पुरुष हैं, जिन्होंने संसार का त्याग करके कठिन मुनिधर्म अंगीकार किया। उसकी स्तुति के वे शब्द ध्यानस्थ मुनि के कानों में पहुँचे। तब तक उनके मन में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का स्थान था, अतः वे प्रमुदित होकर सोचने लगे कि उनके त्याग की कैसी प्रशंसा

हो रही है ! दूसरे ही क्षण दुर्मुख ने कहा— मित्र! तुम कैसे व्यक्ति की प्रशंसा कर रहे हो— यह तो अत्यन्त निर्दयी था, जिसने अपने कर्तव्य का भी पालन नहीं किया और साधु बन गया। ये शब्द भी मुनि के कानों में गये कि यह व्यक्ति उनके कर्तव्य पालन की आलोचना इसलिए कर रहा है कि वे अपने छोटे राजकुमार को पाँचसौ दीवानों के संरक्षण में छोड़ आये हैं, जो उसकी हत्या का षड्यंत्र कर रहे हैं। यह सुनकर उनके मन में अपने बच्चे के प्रति मोह के भाव उमड़ आये। मन ही मन वे ऐसी स्थिति में पहुँच गये, जैसे कि उन्होंने उन पाँचसौ दीवानों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया हो और अपने तीर से चारसौ निन्यानवे दीवानों के सिर उड़ा दिये हों।

इस मनःस्थिति में आरंभ और अल्प आरंभ की स्थिति चल रही है कि मन के सिवाय वचन या काया का साधन कुछ भी काम नहीं कर रहा है, फिर भी केवल यह मानसिक प्रक्रिया भी कर्म—बंध का कारण बनती है। कर्म—बंध भी महारंभ के रूपक के समान होता है। यद्यपि युद्ध की क्रिया केवल मानसिक धरातल पर ही हुई, फिर भी निकाचित परिणामों के कारण उनके नरक का बंध होनेवाला था।

किन्तु इसी बीच उन्हें लगा कि अब तो एक ही बाण बचा है तथा एक दीवान भी बचा है, सो अगर वह इस बाण से न मारा जा सके, तो अपने सिर के तीखे टोप से उसे मारना होगा। इस विचार में जब उन्होंने अपने सिर को सम्हाला, तो तुरन्त उनका ध्यान बंधा कि यह क्या? मेरा सिर तो नंगा है— मैं तो मुनि बन चुका हूँ, फिर मैं किन संकल्पों— विकल्पों में पड़ गया हूँ। इस तरह उनकी विचार—सरणी ऊपर चढ़ती गयी।

तभी श्रेणिक भगवान के पास पहुँचे और उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र की गति के विषय में प्रश्न पूछा। तब पहले क्षण में भगवान ने कहा कि यदि इस वक्त उनके आयुष्य का बन्धन होता है, तो नरक का बंधन होगा, किन्तु दूसरे ही क्षण कहा कि अब की भावस्थिति में

स्वर्ग का बंधन होगा। मानसिक विचारों की तारतम्यता पर ही इस प्रकार आगे के जन्म का नक्शा बनता है। मन की शक्ति ही पतित बनाती है, तो वही शक्ति उद्बोधित भी करती है। मन-परिवर्तन के साथ पाप भी पुण्य में परिवर्तित हो जाता है।

vYi kj tk vls egkj tk dk Hon

कर्म-बंध के क्षेत्र में मन की ही भूमिका प्रमुख होती है। देखना यह होता है उसकी तीव्रता किस श्रेणी में है ? वह श्रेणी पहली जघन्य है, मध्यम है या उत्कृष्ट है ? कर्मों का दृष्टिकोण यह सोचने का होता है कि जब तक तीव्रता का विस्तार नहीं होता है, तब तक फिर भी कर्म-बंध की डोर अपने हाथ में रहती है। अधिक तीव्रता में फिर भान भूलकर मामला नियंत्रण से बाहर चला जाता है।

इसी संदर्भ में आरंभ की स्थिति का प्रसंग आता है कि किसको अल्पारंभ कहना और किसको महारंभ ? इस विषय में भी कई भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कई लोग सोचते हैं कि महारंभ वहीं है, जहाँ पृथ्वीकाय को सता रहे हैं यानि किसान पृथ्वी पर खेती का कार्य कर रहा है और पृथ्वीकाय के जीवों के अलावा जल, अग्नि, वनस्पति तथा त्रस जीव भी मर रहे हैं, अतः किसान महारंभी होता है। अगर किसान महारंभी होता है, तो वह नरक में जाता है। किन्तु ऐसी धारणा वे सामान्यजन करते हैं, जिनका गहरा चिन्तन नहीं होता।

गंभीरतापूर्वक विचार करें कि महारंभ क्या है ? एक तो हिंसा हो रही है और एक हिंसा की जा रही है— इन दोनों स्थितियों में बड़ा अन्तर होता है। जो किसान खेती कर रहा है, वह क्या भावना रखता है— जीवों को मारने की या आजीविका हेतु अन्नोत्पादन की ? किसान का किस भावना से सम्बन्ध है, यह देखने की बात होती है। वह जीवों को मारने की दृष्टि से मारता नहीं। खेती के उद्देश्य से जो उससे हिंसा हो रही है, वह लाचारीवश हो रही है, जिसे महारंभ की श्रेणी में नहीं ले सकते हैं। अतः भावना के आधार से ही महारंभ या अल्पारंभ का निर्णय किया जाना चाहिए।

How dk LFku iqdk

कर्म-बन्ध की स्थिति में इस दृष्टि से भावना का स्थान प्रमुख होता है। मैं इसके लिए शास्त्रीय प्रमाण आपको बताता हूँ। आनन्दजी श्रावक के पास पाँचसौ हल जमीन थी। एक हल अढाई बीघे का माना जाता था। इतनी जमीन थी, तो उतने ही खेती के साधन उनके पास थे। इसके साथ ही चालीस हजार गायों का गोकुल भी उनके पास था। अब आप ही सोचिए कि इतने बड़े कृषि कार्य में छः काया के कितने जीवों का आरंभ-समारंभ होता होगा ? इस दृष्टि से क्या आनन्द श्रावक को महारंभी की पदवी दी जा सकती है ? इसमें शास्त्रकारों का कथन है कि वहाँ बहुत आरंभ था, किन्तु उनका संकल्प जीवों को इरादे से मारने का नहीं था। उनको जो प्रत्याख्यान था, वह यह था कि निरपेक्ष संकल्प करके और चलते-फिरते जीवों को नहीं मारना तथा उनके लिए विरोधी व आरंभिया-हिंसा-दोनों खुली थीं, परन्तु खुली रखने पर भी वे लाचारी का अनुभव करते थे। वे भावना भाते थे कि वह दिन धन्य होगा, जब मैं इस विरोधी व आरंभिया हिंसा को भी त्यागकर क्षान्त, दान्त और निरारंभी बनकर चल सकूँगा। इस भावना के कारण वे सद्गति में ही गये। महारंभ की स्थिति का मूल्यांकन भावना के आधार पर ही किया जाता है।

यदि कृषि आदि कार्यों को महारंभ के दौर में ही मानते, तो क्या गृहस्थ में रहते हुए भी भगवान ऋषभदेव असि, मसि एवं कृषि की कलाओं को सबको बताते व सिखाते ? गृहस्थ अवस्था में भी तो वे तीन ज्ञान के धारक थे। उन्होंने ये कलाएँ प्रजा को बतायीं, तो क्या उन्होंने महारंभ का मार्ग सब को बताया ? कृषि आर्य-व्यवसाय है और उन्होंने इस व्यवसाय को बताकर लोगों को जो कर्म-भूमि पर उतारा, उसके पीछे प्रजा के साथ उनकी हितकामना ही तो थी।

इस कारण महारंभ की स्थिति कब बनती है और अल्पारंभ की स्थिति कब बनती है- इसके लिए सारी परिस्थितियों के साथ

प्रमुख रूप से उसमें निहित भावना को देखना प्राथमिकता से आवश्यक होता है।

de&foikd dk eyk/kj

कर्म-विपाक का मूलाधार मन के परिणामों की तीव्रता के तारतम्य पर टिका होता है। जब मन में जीवों को मारने के परिणामों की तीव्रता उग्रतम बन जाती है, तो एक भी बीघा जमीन नहीं होने तथा प्रत्यक्ष: एक चींटी की भी टांग नहीं तोड़ने पर भी वह महारंभी बन जाता है। इसके विपरीत भारी ऋद्धि-सिद्धि एवं वैभव के साथ चलने पर भी यदि उसके मन में निरपेक्ष भाव है, तो वह महारंभी नहीं बनता। भरत महाराज और स्वर्णकार का रूपक आप जानते हैं कि जहाँ भरत के पास छः खंड का चक्रवर्ती साम्राज्य था और स्वर्णकार के पास एक वक्त की भोजन सामग्री भी नहीं थी, तब भी मन की कुत्सित कल्पनाओं के कारण वह स्वर्णकार महारंभी बन गया और भरत महारंभी नहीं थे। जो तीन भूमिकाओं में जहाँ तीसरी श्रेणी की निम्न भूमिका और तीव्रतम परिणामों में चले जाते हैं, ये चाहे मन ही मन हिंसा करें, फिर भी आक्रान्ता कहलाते हैं।

मन की भावनाओं के इस आधार को पकड़कर ही कर्म विपाक के स्वरूप को समझना चाहिए तथा यह भी अनुमान लगाना चाहिए कि तदनुसार आत्मा की गति परमात्मा के समीप जाने की दिशा में हो रही है अथवा उनसे दूर भागने की दिशा में? जहाँ बहुत आरंभ की भावना है, वहाँ बहुत कर्मों का उपार्जन है। यदि वृत्ति निरपेक्ष है, तो बाहर का वैभव होते हुए भी गहरे कर्म-बंध का कारण नहीं बनता है। कर्म-विपाक के इस मूल दृष्टि-बिन्दु को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि मन को जिस दशा में रखा जायेगा, सर्वाधिक प्रभाव उसी दशा का पड़ेगा।

ifj. ~~Me~~ dh rlor k ij fu; a-k k j / la

यदि अपने भविष्य को उन्नतिशील बनाना है, तो मन के परिणामों की तीव्रता पर कड़ा नियंत्रण रखना होगा। जहाँ मन के परिणामों को स्वच्छन्दता दे दी जाती है, वहाँ कौन-सा अनर्थ घटित नहीं होता ? उत्तेजना के समक्ष उत्तेजित नहीं होना तथा परिणामों की तीव्रता पर नियंत्रण रखना— यही विवेकशील आत्मा की विशेषता होती है।

प्रत्येक भव्य आत्मा का इस दृष्टि से यह पवित्र कर्तव्य होना चाहिए कि मन की चंचलता का विरोध करते हुए उसके परिणामों को उत्तेजित एवं तीव्र नहीं होने दे। यदि ऐसी धीरता और गंभीरता की वृत्ति का अभ्यास कर लिया जाये, तो आत्मा महारंभ और निकाचित कर्मबंध से अपने आपको बचा सकती है। कर्म—विपाक की इस दृष्टि से यह निश्चय समझिए कि फिर आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी कम होती जायेगी।



परिग्रह की मूर्च्छा : नरक की यातना

*Myù iHqftu rç eq vkr# js-----***

पद्म प्रभु की प्रार्थना के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के बीच के अन्तर को दूर करने की दृष्टि चारों ओर फैलायी जा रही है तथा कर्म विपाक पर अभी चिन्तन चल रहा है । कर्मों ने जो आत्मा के बीच में अपनी दीवारें खड़ी कर दी हैं, उनके कारणों पर पूरा विचार किया जाना चाहिए, क्योंकि कर्मों के कारण यदि विद्यमान हैं, तो उनका बंध होगा ही और उसका फल आत्मा को भोगना ही पड़ेगा । कर्मों का फल जिस वक्त भोगा जायेगा, उस वक्त परमात्मा से दूर हटने की स्थिति पैदा होगी । इसलिए कर्म-विपाक हटाना है, तो कर्मों के कारणों को पहले रोकना होगा ।

यदि किसी वस्तु की फसल नहीं उगानी है, तो उसके बीज से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखना होगा । वैसे ही बीज रूप कर्मों के कारणों से दूर हट जाइए, फिर पूर्व के किये हुए कर्मों के अंकुर उगें, तो उन्हें उखाड़ दीजिए, तब इस विपाक का अनुभव नहीं होगा । वह उखाड़ने का कार्य कर्मों के बंध के निमित्त को ध्यान में रखकर किया जाये, तभी सफल हो सकते हैं ।

जहाँ नरक के आयुष्य बंधन का ही प्रश्न है, उसके कारणों को ध्यान में ले लेना चाहिए कि कैसे कोई आत्मा नरक योनि में जा सकती है तथा कैसे वह वहाँ की यातनाओं को बर्दाश्त कर सकती है ? इन कारणों को यदि जानकर रोक दिया जाता है, तो वैसे आयुष्य-बंधन को भी रोका जा सकता है। नरक की यातनाओं का वर्णन बड़ा ही लोमहर्षक माना गया है, जिसे सुनकर भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अतः प्रत्येक आत्मा यह चाहेगी कि ऐसी भीषण यातनाओंवाली योनि का उनको आयुष्य नहीं बंधे, किन्तु कोरा चाहने से कुछ नहीं होगा। नरक के आयुष्य के बंधने के कारणों को जान कर तदनुसार अपनी वृत्तियाँ रखेंगे तब कारणों का निरोध होने से उस आयुष्य-बंध का निरोध हो सकेगा। यदि इरादे से नरक के योग्य कारणों से कर्मों का सम्पादन कर लिया, तो उसे नरक का फल भोगना ही होगा।

कालकृत्यं नरक

एक वक्त यदि कर्मों का निकाचित बंध हो गया, तो उसका नरक का फल छूट नहीं सकता है। कितना ही कुछ उपाय किया जाये, परन्तु निकाचित कर्म-बन्धन में परिवर्तन नहीं आ सकता है। मगध सम्राट श्रेणिक के एक वक्त जब निकाचित कर्म बंध का सम्बन्ध आ गया और वीतराग देव ने उनके नरकगामी होने की भविष्यवाणी कर दी, तब श्रेणिक ने इस बंध को तोड़ने के लिए बहुतेरा प्रयास किया, किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। यह स्थिति नरक के निकाचित कर्म-बंध के सम्बन्ध में है। किन्तु अन्य बंधनों का परिवर्तन करना मनुष्य के हाथ में है और बंधनों को मजबूत बनाना भी उसी के हाथ में होता है। वह जैसा चाहे, उस कर्म में परिवर्तन, परिवर्धन, संक्रमण आदि क्रियाएँ कर सकता है। परन्तु जो निकाचन बंध गये हैं, इस विषय में वह परिवर्तन नहीं कर सकता। निकाचित कर्म-बंधन के कारण उसके सामने आते हैं और उन कारणों को यदि वह

नारकीय यातनाओं के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखे और उन कारणों से बंध-समय से ही अलग हट जाये, तो नरक का बंध नहीं होने पायेगा।

ujd dk vk q; & cak vlf ifjxg

नरक के आयुष्य-बंध के सम्बन्ध में दो प्रमुख कारण बताये गये हैं— एक बहुत आरंभ और दूसरा बहुत परिग्रह। आरंभ, महारंभ और अल्पारंभ के सम्बन्ध में कुछ विचार किया गया है, आज परिग्रह की स्थिति से कुछ विचार करेंगे।

परिग्रह की स्थिति का प्रसंग क्या है ? सब और परिग्रह शब्द तो प्रचलित है और इसके पीछे संघर्ष भी चल रहे हैं, किन्तु परिग्रह की सही परिभाषा का ध्यान बहुत कम को होगा। परिग्रह के लिए कहा जाता है कि इसने संसार में विषम परिस्थितियों की रचना की है, तो ऊँच-नीच की दीवारें खड़ी करनेवाला भी यही परिग्रह है। परिग्रह ही एक दूसरे का तिरस्कार करता है और सब पापों की जड़ के रूप में परिग्रह के ममत्व से ही आत्मा जन्म-मरण के चक्र में भटकती है।

किन्तु इस परिग्रह की परिभाषा क्या है— यह पहले विचारणीय है, क्योंकि सही परिभाषा से ही उसका सही स्वरूप समझ में आयेगा तथा सही स्वरूप जानकर ही उससे बचा भी जा सकेगा। शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार परिग्रह की परिभाषा की गयी है—

*“ifjxársbfr ifjxg%”***

अर्थात् जो ग्रहण किया जाये, उसका नाम परिग्रह है। किन्तु भावार्थ की कसौटी पर कसें, तो यह परिभाषा सही नहीं उतरती है, क्योंकि ग्रहण करने—मात्र से यदि परिग्रह लग जाये, तो सिद्धों के सिवाय कोई भी आत्मा परिग्रह रहित नहीं हो सकेगी। जहाँ तक ग्रहण करने का प्रसंग है, सो संसार के पदार्थ भी ग्रहण ही किये जा

रहे हैं और कदाचित् किसी ने संसार के पदार्थों का त्याग करके मुनिव्रत भी धारण कर लिया, तब भी मुनि अवस्था में भोजन, वस्त्र, उपकरण आदि ग्रहण किये ही जाते हैं। तब मुनि अपरिग्रही कैसे कहला सकेंगे ? मुनि ही क्या— केवली भी इस परिभाषा से परिग्रही नहीं कहला सकेंगे, क्योंकि केवली भी भोजन, मकान आदि तो ग्रहण करते ही हैं। इरियावही की दृष्टि से साता वेदनीय कर्म को भी वे ग्रहण करते हैं। यह अवस्था चौदह गुणस्थान के अन्तिम छोर तक पहुँचती है। इस परिभाषा को शास्त्रकारों ने भी नहीं माना है। अतः शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार परिग्रह की परिभाषा अर्थपूर्ण नहीं बनती है।

ifjxg dh okLrfod ifjHKKk

परिग्रह की सही व्याख्या तत्त्वार्थ सूत्र में की गयी है और उस परिभाषा के लिए कहा जा सकता है कि वह शब्द का पूर्ण भावात्मक अर्थ प्रस्तुत करती है। परिभाषा इस प्रकार है —

*^ePVLifjxg%**

अर्थात् जो मन की मूर्च्छा और मन का ममत्व किन्हीं पदार्थों के प्रति है, वही वास्तव में परिग्रह है। जिसमें मूर्च्छा है, आसक्ति है, गाढ़ आत्मा का लगाव है, वही परिग्रही होता है। जो मूर्च्छा की दृष्टि से चलता है, तो पदार्थ मूर्च्छा से उसके साथ लागू हो जाते हैं और उसके लिए परिग्रह बन जाते हैं।

यह सर्वथा मान्य परिभाषा इसलिए है कि यह परिग्रह के गूढार्थ को स्पष्ट करती है। यों तो इस संसार में अगणित प्रकार के पदार्थ रहे हुए हैं, किन्तु जिनके प्रति जो अपने मन में लालसा जगाता है, वे-वे पदार्थ उसके लिए परिग्रह का रूप धारण करते हैं, कारण कि उसकी मूर्च्छा उन पदार्थों में पैदा हुई है। वे पदार्थ, चाहे उसके हस्तगत हों या उन्हें पाने की उसे तृष्णा—मात्र ही हो, उसके ममत्व क्षेत्र में आ जाते हैं। दूसरी ओर विशाल वैभव और पदार्थों का

अम्बार स्वयं की अधीनता में हो, किन्तु उनके प्रति मन में मूर्च्छा न हो, तृष्णागत लगाव न हो— ममत्व न हो, तो द्रव्य—परिग्रह पास में होते हुए भी भाव—परिग्रह से वह मुक्त कहलायेगा।

इस परिभाषा से इन्सान यदि सोचने बैठे, तो इसके भेद—प्रभेद समझ में आ सकते हैं। इस समझ के साथ ही वह बन्धन से बच सकता है। मुख्यतया परिग्रह का आधार मानसिक है। मन में परिग्रह यदि रचा—पचा है, उसकी प्राप्ति के लिए विविध संकल्प—विकल्प एवं परिणामों की तीव्रता है, तो स्थूल परिग्रह की उपलब्धि हो या नहीं, वह मन ही मन बहुल परिग्रही हो जायेगा तथा वैसी मनोदशा में वह नरक के आयुष्य का भी बंध कर सकता है।

ifjxgh vki vijxgh dki |

परिग्रह की इस परिभाषा के अनुसार परिग्रही और अपरिग्रही का निर्णय प्रत्येक की मनोदशा के आधार पर ही लिया जा सकता है। साधारण रूप से साधु को अपरिग्रही कहा जा सकता है, क्योंकि संयम के रक्षार्थ उपकरण—रजोहरण, पात्र, वस्त्र (मर्यादित 72 हाथ) आदि के सिवाय वह सारे द्रव्य—परिग्रह का परित्याग कर देता है। इन उपकरणों में भी साधु—जीवन के लिए किसी प्रकार से मूर्च्छा की भावना बनाने का प्रसंग नहीं रहना चाहिए। इस निरपेक्ष भावना के साथ जब साधु अपरिग्रही होकर संयम—साधना में लगता है, तो उसके लिए नरक के द्वार बन्द हो जाते हैं।

अब प्रश्न गृहस्थ का आता है। गृहस्थ—वर्ग में जहाँ तक ग्रहण करने की नीति है, वहाँ तक तो उसके नरक का अवसर नहीं है। परन्तु गृहीत पदार्थों में जहाँ मूर्च्छा का भाव आता है, तब मन की दशा मलिन बनने लगती है। फिर भी वह मूर्च्छा का भाव जब तक साधारण अवस्था में रहता है, तब तक नरक के आयुष्य—बंध का अवसर नहीं आता है। नरक की स्थिति तो तब बनती है, जब उसकी मूर्च्छा का भाव अति जटिल बनकर उसे बहुल परिग्रही बना देता है।

यदि वह खेत, वस्तु, धन, धान्य आदि नौ प्रकार के परिग्रह पदार्थों की अपने या अपने परिवार के लिए मर्यादा करके अनासक्त-भाव से चलता है, तो उसके नरक का आयुष्य नहीं बंध सकता। ये नौ प्रकार के पदार्थ चाहे उसके पास अल्प-मात्रा में हों अथवा बहुल-मात्रा में, क्योंकि परिभाषा में-मात्रा का कोई अंकन नहीं है। बाह्य परिग्रह कितना भी हो अथवा नहीं हो- वह मनुष्य परिग्रही अथवा अपरिग्रही नहीं बनता, परंतु परिग्रह के पीछे उसके मन का लगाव-आसक्ति भाव कितना है- परिग्रही अथवा अपरिग्रही बनाने के पीछे मुख्य विषय यही देखने का होता है।

Howk ds cUkuk dh t dM-

एक व्यक्ति के पास आवश्यकता के अनुसार साधन सामग्री है। उसने अपने जीवन निर्वाह के सिवाय अपने परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह की दृष्टि से साधन सामग्री एकत्रित कर रखी है, परंतु मन में यह चिन्तन करता है कि यह साधन सामग्री इस गृहस्थ अवस्था की दृष्टि से उपयोग में लेने योग्य है, किन्तु मैं अपने मन को इसमें किसी तरह से अटकानेवाला नहीं हूँ। आवश्यकता से यह सम्पत्ति मेरे पास है, किन्तु आसक्ति से इसका मैं अस्तित्व ही नहीं मानता। अपने पास है, तो निरपेक्ष भाव से इसका उपयोग है और नहीं रहे, तो उसका जी में कोई खेद नहीं, क्योंकि जिसके प्रति ममत्व नहीं, तो उसके न रहने का खेद भी नहीं होगा। अनासक्त भावना ऐसी ही होती है। वह यदि ऐसे अनासक्त भाव से निजत्व को परिग्रह से ऊपर उठा कर चलता है, तो वह गृहस्थ होते हुए भी अपरिग्रही अवस्था में माना जा सकता है। वह नरकगामी नहीं बन सकता है।

शास्त्रीय शब्दों में यदि श्रावक व्रत की भूमिका में वह अपने शुद्ध अध्यवसायों को लेकर चलता है, तो उस अवस्था में आयुष्य का बंध होने पर वह स्वर्ग के आयुष्य का बंध करता है। यदि आराधक

भाव से श्रावक—व्रत में आयुष्य बाँधता है, तो जघन्य कम से कम पहले स्वर्ग का और अधिक से अधिक बारहवें स्वर्ग का आयुष्य वह बाँधेगा।

इस प्रकार भावना के बंधनों की जकड़ ही मुख्य जकड़ होती है। श्रावकों के जैसे वैभव का शास्त्रों में वर्णन आया है, उतनी विशाल सम्पत्ति के रखते हुए भी वे भावना की जकड़ से दूर रहते थे—इसलिए जटिल परिग्रही नहीं बनते थे। भावना में मूर्च्छा तथा आसक्ति नहीं लाने की दृष्टि से ही वे सारे वैभव के स्वामित्व के बावजूद नरकगामी नहीं बन सकते थे। यह तो श्रावक की स्थिति है।

परन्तु कल्पना करें कि एक राष्ट्र का बड़ा नेता है, राष्ट्रपति के पद पर है, किन्तु यदि वह राष्ट्र की सम्पत्ति एवं सत्ता से अपने को कतई बाँधकर नहीं चलता है, तो क्या वह नरक के आयुष्य का बंध करेगा ? राष्ट्रपति तो एक ही राष्ट्र का स्वामी होता है, किन्तु चक्रवर्ती सम्राट तो छः खंडों का अधिपति होता है— उसकी व्यापक सत्ता एवं विशाल सम्पत्ति का तो क्या कहना— किन्तु यदि वह भी उसकी मूर्च्छा में अपने आपको ग्रस्त नहीं बनाता है तथा अपने जीवन को जल में कमलवृत्त ले जाता है, तो उसके भी नरक के आयुष्य—बंध का अवसर नहीं रहता है। भरत चक्रवर्ती का उदाहरण आप जानते ही हैं तथा उनके तेल के कटोरे की कहानी भी— जिससे प्रकट होता है कि जहाँ परिग्रह के अस्तित्व के बावजूद उसके प्रति ममत्व नहीं है, वहाँ परिग्रही होने की स्थिति नहीं है। इसके विपरीत परिग्रह अपने पास नहीं होते हुए भी परिग्रह के प्रति यदि जटिल मूर्च्छा, लालसा और तृष्णा है, तो वह बाहर से परिग्रही नहीं होते हुए भी मन से बहुत परिग्रही बन जाता है और नरकायुष्य का बंध कर लेता है।

1 eW Hh vijxgh gk l drk gS

सत्ता एवं सम्पत्ति के बहुल स्वामित्व के होते हुए भी चक्रवर्ती सम्राट भी यदि उस सम्पूर्ण परिग्रह के प्रति मूर्च्छा रहित भाव लेकर

चलता है, तो अपने मानसिक धरातल पर अपरिग्रही हो सकता है। इसका कारण है कि वह सम्यक्-दृष्टि बनकर हेय, ज्ञेय एवं उपादेय तत्वों को समझता है तथा तदनुकूल अपने आचरण को ढालता है। जो दिखायी देता है, कई बार वास्तविकता उससे कतरई भिन्न होती है। यह बाहर की दुनिया विचारों की दुनिया से इसीलिए कई बार अलग-सी बन जाती है और तब जानकारी में आश्चर्य का अनुभव होता है। यही कारण है कि जब तक गहराई से नहीं देखें, वस्तुस्थिति का सच्चा परिचय नहीं मिलता है। अतः एक ओर चक्रवर्ती सम्राट भी भावना के धरातल पर अपने आन्तरिक जीवन की दृष्टि से स्वर्ग और मोक्षगामी तक बन सकता है, तो दूसरी ओर यदि वह अपनी सत्ता और संपत्ति में बाहर की बहुलता की तरह अपनी अन्दर की मूर्च्छा में भी बहुलता रखता है, तो उन निकाचित कर्मों के बंधनों के फलस्वरूप वह नरक का मेहमान बन जाता है।

जहाँ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के जीवन का वर्णन आता है, वहाँ आप देखते हैं कि वह अपने ऐश्वर्य में इतना अधिक आसक्त बना कि तनिक भी त्याग को अपना नहीं सका और अपने अन्तिम समय तक तृष्णाग्रस्त रहकर नरकगामी बना। इस प्रकार जो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती जितने वैभव में आसक्त बनता है, वह तो नरक का आयुष्य बाँधता ही है, लेकिन यह आसक्ति की निकाचित भावना अल्प वैभववाले या वैभवहीन को भी छोड़ती नहीं है।

oMoghu Hh i fJxgh !

जिस पुरुष के पास एक वक्त के भोजन की साधन सामग्री का भी संग्रह नहीं है, किन्तु यदि उसकी आन्तरिक मूर्च्छा और आसक्ति अत्यधिक पदार्थों को हड़प करने की बनी हुई है और वह अपने मनमें तृष्णा के निकृष्टतर स्तर पर चल रहा है, तो वह वैभवहीन होकर भी परिग्रही और बहुल परिग्रही बनता है तथा अपने आपको नरकगामी बना सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि बाहर की स्थिति वास्तविकता का मापदंड नहीं होकर आन्तरिक भावों की स्थिति मुख्य होती है। मन के परिणामों का ही प्रधानतः सारी आन्तरिक एवं बाह्य प्रवृत्तियों पर प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति की लिप्सा जैसी होती है, वैसा ही वह बोलता है और प्रयास करता है और उसी के अनुसार उसका स्वभाव ढलता है तथा कर्मों का बंध होता है। इस दृष्टि से लिप्सा और प्राप्ति का यह सम्बन्ध नहीं होता कि लिप्सा के बाद यदि तदनुकूल प्राप्ति नहीं हुई, तो कर्म न बंधे। यह कर्मबंध तो मूलतः लिप्सा के चिकने परिणामों के साथ ही हो जाता है। आज के कानून में भी तो ऐसा ही होता है कि कोई किसी की हत्या करने की निकृष्ट भावना बनाकर हत्या का यत्न करे, तो उसे दंड मिलता है, चाहे वह हत्या का प्रयास सफल न हो। इस दंड विधान में भी मन के इरादे को ही मुख्य रूप से देखा जाता है। अतः परिग्रह पास नहीं होने पर भी जो परिग्रह की लिप्सा में मूर्च्छित बना घूमता है, वह परिग्रही होकर तदनुकूल कर्म-बंध का भागी बनता है।

vifjxgokn dk eeZ

इसी चित्र का दूसरा पहलू आप चेड़ा महाराज के प्रसंग से समझिए। मध्यमकालीन गणतंत्र के नायक चेड़ा महाराज के जीवन से अपरिग्रहवाद का मर्म प्रकट होता है। एक ओर वे लिच्छवी गणतंत्र के प्रमुख थे, तो दूसरी ओर बारह व्रतधारी श्रावक। एक ओर सत्ता और सम्पत्ति का वैभव, तो दूसरी ओर श्रावकत्व की निस्पृह भावना एवं त्याग-वृत्ति। परिग्रह की प्रचुरता पास में होने पर भी उसमें आसक्ति या मूर्च्छा न रखना— यही अपरिग्रहवाद का मर्म है। मन का निग्रह ही इस कारण सर्वोपरि तथ्य होता है। अपने एक दोहिते सम्राट कुणिक के अन्याय से दूसरे दोहिते हलकुमार के हितों की रक्षा के लिए चेड़ा महाराज के नेतृत्व में भयंकर युद्ध हुआ, परन्तु इस रक्तपात के बावजूद श्रेष्ठ निष्ठा के कारण उनके श्रावकत्व को कहीं भी आँच

तक नहीं लगी। राज्य और युद्ध के संचालन के बावजूद चेड़ा महाराज बहुत आरंभी और बहुत परिग्रही नहीं बने, बल्कि श्रावक धर्म की विशुद्ध आराधना के फलस्वरूप वे स्वर्गगामी हुए।

इस कारण भावनाओं के संसार को समझने की कोशिश कीजिए और इसे सत्य मानिए कि आत्म-विकास का बीजारोपण पहले भावनाओं के संशोधन से ही होगा। कोई यह सोचे कि जैनधर्म का श्रावक बन जाये, तो वह राजा नहीं बन सकता अथवा सत्ता और सम्पत्ति के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का वहन नहीं कर सकता, तो यह धारणा सही नहीं है। यह धारणा भी इसी तरह सही नहीं है कि वह राष्ट्र-रक्षा में शौर्य या पराक्रम नहीं दिखा सकता है। मुख्य प्रश्न मन के भावों का होता है— मन की आसक्ति और मूर्छा का होता है। वीतराग के अनुयायी आनन्द आदि श्रावक विशाल सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी देश-परिग्रही यानि सीमित परिग्रही ही कहलाये। मन की वैसी अनासक्त भावनाओं के साथ यदि अपरिग्रह का वैसा स्वरूप समाज में आज अपना लिया जाये, तो संसार में समतामय समाज-रचना का स्वरूप समक्ष आ सकता है।

vkä fä Nw rks vi f j x g o k n v k s

भगवान महावीर के उन आदर्श श्रावकों के जीवनवृत्त आपके सामने हैं, जो अपनी अनासक्त भावनाओं के स्वामी थे— परिग्रहधारी होकर भी उसकी आसक्ति से मुक्त थे। आप भी भगवान महावीर के श्रावक कहलाते हैं और सोचिए कि इस संबंध में आपका जीवन कैसा चल रहा है ? क्या आप लोगों में से भी अधिकांश दुनिया के अन्य लोगों की तरह परिग्रह को उचित-अनुचित सभी उपायों से बटोरने में रात-दिन एक नहीं कर रहे हैं ? उनको इस बात का ख्याल कम आ रहा है कि वे चंद-चांदी के टुकड़ों की आसक्ति में इस अमूल्य मानव-जीवन को बरबाद कर रहे हैं और निकाचित कर्मों का उपार्जन भी कर रहे हैं। यह मनुष्य तन क्या नारकीय कर्म का

उपार्जन करने के लिए है ? मनुष्य तन और जीवन का सच्चा उपयोग तो यह है कि नारकीय कर्मों को तोड़कर अन्य सारे कर्मों के आवरणों को हटाते हुए मोक्ष की साधना की ओर आगे बढ़ा जाये।

श्रावक का सच्चा कर्तव्य तो यही है कि वह अपने मन और मस्तिष्क में इस उद्देश्य को लेकर चले तथा सबसे पहले परिग्रह के प्रति आसक्ति को हटाते हुए वास्तविक रूप में अपरिग्रही बनने का प्रयास करे। चाहे पहले एक व्रत को धारण करके ही श्रावक बना जाये, किन्तु उस एक व्रत का पालन भी निष्ठा और साहस के साथ किया जाये, जिससे अनासक्त भाव की पुष्टि हो। एक व्रत से बारह व्रत तक श्रावक ग्रहण करे, किन्तु यह अवश्य करे कि वह धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चौपद आदि सम्पूर्ण परिग्रह के पदार्थों में तटस्थ वृत्ति को अपनाये। यदि वह तटस्थ वृत्ति नहीं बना सका और मन में लालसा बनी रही, तो चाहे उन पदार्थों का संयोग न भी जुड़े, तब भी उसके लिए नरक बंध की स्थिति तैयार हो सकती है।

इसके विपरीत जिसके पास बहुतेरा वैभव भी है, परन्तु उसकी स्थिति से वह निर्लिप्त रहकर यदि यथास्थान यथासंभव उसके सम-वितरण में आस्था रखता है तथा यथासमय उसका विभाग करके चलता है, तो वह नारकीय स्थिति से बच सकता है और यदि उसकी निर्लिप्त भावना उत्कृष्ट अवस्था की ओर बढ़ती है, तो वह साधना की उच्चस्थ श्रेणियों में भी पहुँच सकता है।

नरक वरुण की चिंता

बाहर की दिखनेवाली चीजें— ये द्रव्य परिग्रह हैं और भाव परिग्रह वह है, जो इन चीजों में मूर्च्छा रही हुई है। विशेष रूप से इस मूर्च्छा के जितने घनत्व के साथ जो चलता है, वह व्यक्ति अत्यधिक घनत्व के साथ नरक के बंधन की स्थिति की तैयारी करता है। अन्दर की मूर्च्छा—भावना इंसान को कहाँ से कहाँ पटक देती है! इस मूर्च्छा के तीव्र परिणाम जब इस परिग्रह को येन-केन प्रकारेण प्राप्त करने

में कार्यरत बनते हैं, तब कर्म बंधन के निकाचित कार्यों को कर लेने की घृष्टता करते हुए भी वह व्यक्ति हिचकिचाता नहीं है।

आजकल तो कहते हैं कि सभ्य तरीकों से भी ठगाई, लुटाई और जेब-कतराई चलती है, परन्तु सबकी भावना इस द्रव्य परिग्रह के प्रति अत्यन्त आसक्त बनी हुई है और इसी भावना ने दूसरे सम्बन्धों को तो छोड़िए— भाई-भाई के सम्बन्ध को भी सर्वथा विच्छेदित करवा दिया है। इसी आसक्ति की भावना ने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में घोर अशान्ति पैदा कर रखी है। इसी आसक्ति की भावना ने सब ओर एक हिंसक वातावरण की रचना कर दी है। अतः ऐसी निकृष्ट भावनाओं का परिमार्जन अपरिग्रहवाद की दृष्टि से जब तक नहीं किया जायेगा, तब तक न तो इस लोक में शान्ति मिलनेवाली है और न परलोक का ही सुधार होनेवाला है। ऐसी मानसिक अवस्था में परमात्मा से समीपता की स्थिति भी प्राप्त होनेवाली नहीं है।

t hou ea l mxh vlf l erk ylb, !

यह परिग्रह और उसके प्रति मूर्छा की भावना दिन दूनी और रात चौगुनी जो सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है, उसे रोककर आज जीवन में सादगी और समता लाने की आवश्यकता है। श्रावकत्व में परिग्रह के प्रति मर्यादा बनाने का जो प्रावधान है, उसे आज विस्मृत किया जा रहा है। परिग्रह की सीमा स्वेच्छा से जैसे आज कोई बाँधना नहीं चाहता है। कोई कानून बन जाये और सारी कोशिश के बाद कहीं सुराग नहीं हो, तब जबरदस्ती व लाचारी से लोग भले ही पीछे हटें, वरना भावना में अपरिग्रह-वृत्ति लाने का साधारणतया अभ्यास नहीं करते हैं। यह जीवन के उत्थान का दृष्टिकोण नहीं है। सरकारी कानून से बलात् परिग्रह प्राप्ति को मर्यादित करना भी पड़ता हो, तो उससे न तो आसक्ति घटती है और न ही किसी प्रकार का त्याग होता है। आसक्तिमय वृत्तियों की ऐसी तीव्रतम परिणाम स्थिति में यदि आयुष्य का बंध होता है, तो आप ही समझ लीजिए कि वह कहाँ का होगा ?

कर्म-बंध के शास्त्रीय सूक्ष्म विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए आज भाइयों और बहिनों को सादगी के जीवन को अपनाना चाहिए, जिससे आसक्ति एवं तृष्णा की भावनाओं से एक ओर छुटकारा मिलेगा, तो दूसरी ओर विचारों एवं व्यवहार में समता वृत्ति को अधिकाधिक प्रवेश प्राप्त होगा। मैं तो इस स्थान पर आपको यही संकेत देना चाहूँगा कि संसार और निजात्मा की विषमताओं को देखते हुए परिग्रह को और उसकी मूर्च्छा को घटाइए, द्रव्य परिग्रह को भी सीमाओं में बांधिए और जीवन में समता व सादगी लाइए। ऐसा करने से मूर्च्छा और आसक्ति की भावना हल्की होगी तथा परमात्मा के समीप जाने की भावना प्रबल बनेगी।

1 Eī fūk dk 1 nq; lōx dja

अनासक्त भावना की प्रबलता से जब सम्पत्ति के प्रति मोह घटेगा, तो उसके सदुपयोग करने की वृत्ति भी बढ़ेगी। बहती गंगा में इस सम्पत्ति से हाथों का मैल जितना धो सकें— धोना चाहिए। इसकी लपेट में आत्मा की स्थिति को उलझाने की बजाय सम्पत्ति का दानादि कार्यों में सदुपयोग करके इसके जाल से ऊपर उठने का निरन्तर यत्न करना चाहिए। अन्यत्र भी और विशेष रूप से धर्म स्थान में तो जीवन की पूर्ण सादगी झलकनी ही चाहिए।

त्याग तभी बनता है, जब आन्तरिक मूर्च्छा कम होती है और यदि मूर्च्छा रखते हुए त्याग किया भी, तो वह यश की लालसावाला त्याग हो सकता है, भावनापूर्ण नहीं। अतः ममता छोड़कर त्याग करें और जीवन में समता लायें, तभी अपरिग्रहवाद का व्यवहारिक रूप से प्रसार किया जा सकेगा।

oMrfod vkuh dh fLEWf

ममता का फल दुःख ही दुःख है, तो समता वास्तविक आनन्द की वाहक होती है। जो समता के महत्व को समझता है, वह हर

समय समभाव से ही चलता है और समभाव के साथ वास्तविक आनन्द की स्थिति रही हुई है। महा-आरम्भ और महा-परिग्रह महा-मूर्च्छा के साथ बंधे होने के कारण नरक की भीषणतम यातनाओं के हेतु बनते हैं और आत्मा को पतन के महागर्त में गिराते हैं। अतः इस मूर्च्छा से ऊपर उठिए और समता से वास्तविक आनन्द प्राप्त कीजिए।



मानव-जीवन की सच्ची कला

*“Ine iḥḥft u rā eq vīā: js-----***

इस प्रार्थना के माध्यम से प्रभु के चरणों में यही निवेदन है कि हे भगवन! परमात्मा के रूप में आप सुखी हैं, किन्तु संसारी आत्माएँ दुःखी हैं। आप अनन्त ज्ञान के स्वामी तथा समता के सागर हैं, परन्तु संसार के प्राणी अल्प ज्ञान एवं अज्ञान के थपेड़े खाते हुए विषमता के संकटों में घिरे हुए हैं। आप परमानन्द में लीन हैं, लेकिन भव-भ्रमण में भटक रहे जीवों को आधि, व्याधि, उपाधि का पर्याप्त दुःख दुःखित बना रहा है। परमात्मा और आत्मा में जो यह अन्तर है—समस्या यही है कि उसे दूर कैसे किया जाये ? इसी का समाधान प्रार्थना के भावार्थ में खोजना है।

परमात्मा और आत्मा की अवस्था जब तक गुण-दृष्टि से समान नहीं बनेगी, तब तक अन्तर दोनों के बीच तदनुसार अन्तर के रूप में बना हुआ रहेगा ही। समान अवस्था की प्राप्ति के लिए विवेकपूर्ण ज्ञान की नितांत आवश्यकता है। इस विवेकपूर्ण ज्ञान की दृष्टि समता के धरातल पर ही खुल सकती है।

मूल रूप में आत्मा स्वयं समता का पुंज होती है। आत्मा का स्वरूप भी समतामय ही होता है। परन्तु आत्मा के इस समतामय स्वरूप को ममतामय रूप ने जो विकृत बना दिया है— इसी कारण संसारी आत्माओं के वर्तमान स्वरूप में विषमता व्याप्त होती हुई दिखायी देती है। इस ममतामय विकृति ने अहंकार एवं ममकार का रूप धारण कर लिया है और इन दुर्गुणों के साथ आत्मा विचित्र रूप से मायाजाल में उलझती रहती है कि जिससे सुलझना दुष्कर बनता जाता है। विषमता की इस अवस्था में आत्मा जितना समता के सम्बन्ध में चिन्तन करेगी, उतना ही उसके सुलझने का मार्ग निष्कण्टक बनता जायेगा। यदि आत्मा स्वयं अपने समतामय स्वरूप को समझकर उसकी अनुभूति के शुद्ध प्रयत्न में लग जाती है, तो कहा जा सकता है कि वह मनोवांछित फल भी प्राप्त कर सकती है। वह इच्छानुसार गति (योनि) भी पा सकती है, तो अपनी भावना के अनुसार सारे संसार की सुदशा भी देख सकती है।

1 erle; t bou dh l khuk

इस निष्ठा को सुदृढ़ बनाइए कि यह मानव—जीवन मुख्यतः समता की साधना के लिए है। इस अमूल्य जीवन में मानव को सही तरीके से सोचने की जरूरत है। जबकि हमारे पास पूर्ण शांति एवं अपूर्व सुख को प्राप्त करने की योग्यता है तथा समग्र शक्तियों की केन्द्र रूप आत्मा है, तब इस जीवन को उस योग्यता के विकास एवं प्रकाशन में न लगाकर पर—पदार्थों के व्यामोह में लगाया जाये— इसे कैसी बुद्धिमत्ता कहेंगे ?

बुद्धिमान पुरुष यदि विवेक के दीपक के साथ समतामय जीवन की साधना पर चिन्तन करता है तथा इस अमूल्य जीवन को इस दिशा में मोड़ लेता है, तो उसके लिए निकृष्ट योनियों की तरफ जाने का प्रसंग नहीं आता है। वर्तमान में जो कुछ भी इस आत्मा की पर—पदार्थों के साथ ममत्व भावना बनी हुई है, तो इस ममत्व भावना

में भी पूर्वार्जित कर्मों का उदय ही विशेष रूप से रहा हुआ है। पूर्वार्जित कर्मों का उदय जब आता है, तो उनके प्रभाव से यह आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर संसार के भौतिक पदार्थों के साथ अपनत्व एवं ममत्व की भावना को जोड़ लेती है। यहीं से विषमता के विषैले भावों का बीजारोपण शुरू होता है।

संसार के भौतिक पदार्थ जब किसी को प्राप्त हो जाते हैं, तो यह ममत्व-भाव अहंकार के रूप में फूटता है। अहंकार लोभ एवं क्रोध को पनपाता है, तो माया की सहायता से भीषण रूप लेता रहता है। ममता का मारा हुआ मानव सोचने लगता है कि उसके सरीखा और कौन हो सकता है ? इन पदार्थों की बहुलता में वह तो वह ही है, बल्कि वह औरों को अपने सामने कुछ भी नहीं समझता। यह ममकार की भावना और अहंकार की वृत्ति मानव को मायावी झोंकों में बेभान बना देती है।

eerk / smit h fplrk

ममता के चक्कर में जब एक वक्त आत्मा उलझ जाती है, तो उसके सिर पर चिन्ताओं का एक बहुत बड़ा जाल आ जाता है। तब ऐसी उलझी हुई चिन्ताओं को दूर करने में वह बराबर विफल होती जाती है। सोचिए, इन सारी चिन्ताओं के पीछे किसकी शक्ति लग रही है और यह चिन्ता करनेवाला कौन-सा तत्व है ? चिन्ता- यह भी शक्ति का एक प्रवाह है और चिंतन होना भी आत्मा की एक पर्याय है। आत्मा की शक्ति जब नाशवान पदार्थों की ओर मुड़ती है और उनकी लालसा का रंग जब आत्मा पर बुरी तरह से चढ़ जाता है, तब वही रंग उतार-चढ़ाव के समय विविध चिन्ताओं के रूप में संसार के सामने अभिव्यक्त होता है।

इसी आत्म-शक्ति से जब इन्हीं सारे पर-पदार्थों की ममता हट जाती है, तो यही चिन्ता तब समुन्नत चिन्तन का रूप ग्रहण करके चित्त में एक सच्ची शान्ति की लहर उत्पन्न करती है तथा आत्म-शक्ति

को स्वयं के स्वरूप की अभिव्यक्ति में नियोजित कर देती है। विचारों की यह एक ऐसी धारा है, जिसे मानव चाहे जिधर मोड़ सकता है।

ममता से उपजी चिन्ता जहाँ आत्मा को मोहित बनाकर उसकी शक्ति को पतन की ओर धकेलती है, वहाँ यदि मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर समता की ओर गति की जाये, तो चित्त को दुःखी करनेवाली वह चिन्ता चित्त में आनन्द बरसानेवाले उत्थानगामी चिन्तन का रूप ले लेगी। आवश्यकता है कि मनुष्य अपनी ममता को हटाये और अपने विचारों की श्रेणी में परिवर्तन लाकर अपनी आत्म-शक्ति समता की प्राप्ति की ओर लगाये।

1 wZds izk'k dh rjg mleqñ 1 erk

ममता जहाँ मनुष्य के मन को संकुचित बनाकर छोटे से छोटा और क्षुद्र से क्षुद्र बना देती है, वहाँ समता उसी मन का इतना विस्तार करती है कि साधना के अनुरूप वह मन विशालतम तक हो जाता है। समता सूर्य के प्रकाश की तरह उन्मुक्त होती है और इसी कारण ग्रहण शक्ति के अनुसार व्यापक बन जाती है।

सूर्य का प्रकाश भू-मण्डल पर मुक्त रूप में प्रसरित होता है, परन्तु इस प्रकाश का उपयोग अपने-अपने स्वभाव की दृष्टि से विभिन्न रूपों में होता है। किसानों के खेतों में ही समझिए कि विभिन्न प्रकार की फसलें उगायी जाती हैं और सभी फसलें सूर्य की ऊष्मा को ग्रहण करती हैं। सूर्य की किरणें एक सी हैं, किन्तु जिस स्वभाव का पौधा उन्हें ग्रहण करता है, उनकी वैसी ही परिणति कर देता है। कल्पना करें कि उन खेतों में अफीम का पौधा भी है और गन्ने का पौधा भी खड़ा हुआ है। अब दोनों पौधे सूर्य के प्रकाश का उपयोग कर रहे हैं। अफीम का पौध कटु रस पैदा कर रहा है, तो गन्ना मीठा रस। इसी प्रकार अनेकानेक प्राणी भी सूर्य के प्रकाश को अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप ग्रहण करते हैं। इस स्थिति को देखकर सूर्य के प्रकाश

का क्या स्वभाव माना जाये ? क्या सूर्य-प्रकाश का स्वभाव कटु रूप है अथवा मिष्ट या अन्यान्य रूपी ?

ग्रहण के परिणाम की दृष्टि से भले ही यह विविधता दिखायी देती हो, किन्तु अपने मूल स्वभाव की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश स्वच्छ और निर्मल होता है। इसी प्रकार समता का स्वरूप भी निर्मल और उन्मुक्त होता है। आत्मा का मूल स्वभाव भी स्वच्छ और निर्मल ही होता है, किन्तु उसकी वृत्तियाँ एवं शक्तियाँ सूर्य की किरणों की तरह जब विभिन्न पर-पदार्थों के साथ मोह रूप में जुड़ती हैं, तो वे चित्र-विचित्र रूप में दिखायी देती हैं। उस स्वच्छता में उन-उन पदार्थों का रंग आ जाता है। इसी कारण कभी आत्मा में चिन्ता की अभिव्यक्ति होती है, जिसमें कभी मनुष्य रोने लगता है, कभी हंसने लगता है, तो इस प्रकार संसार के भौतिक पदार्थों में आनन्द और खेद का अनुभव करता है।

vkrfjd ifj. Wela l s xtr&efä

आत्मा की वृत्तियों और शक्तियों के इन रूपों पर यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाये, तो स्पष्ट होगा कि आन्तरिक परिणाम जिस दिशा में बहेंगे, उन्हीं के अनुसार आत्मा की भावी गति का निर्णय हो सकेगा। गति की अपेक्षा से दुर्गति, सद्गति और यहाँ तक कि मुक्ति की प्राप्ति का रहस्य भी आन्तरिक परिणामों के पतन एवं उत्थान में ही समाया हुआ है। यह आत्मा नरक के योग्य भी कर्म इसी धरातल पर उपार्जन कर सकती है, तो इसी धरातल पर उत्कृष्ट सरणियों में ऊपर चढ़ती हुई मुक्ति के द्वार भी खटखटा सकती है।

नरक गति के कारणों का वर्णन मैं आपके सामने कुछ शब्दों में रख गया हूँ, जिससे मनुष्य को ज्ञात रहे कि जैसी उसकी आन्तरिक विचारणा चल रही है, उसी के अनुसार वह नरक या स्वर्ग की गति का बंध कर रहा है। अब पशु-योनि के बंध के कारणों की

यदि जानकारी करनी है, तो शास्त्रकारों का संकेत है कि नरक के योग्य निकाचित कर्म—बंध जब कुछ हल्के रूप में होते हैं, तो पशु—गति का आयुष्य बंधता है। तदनुकूल ममता की जटिल वृत्तियाँ मनुष्य को पशु—योनि में भेज देती हैं।

यह वीतराग देव का सिद्धान्त है कि मनुष्य मर करके नरक में भी जा सकता है, पशु भी बन सकता है, देवगति को भी प्राप्त कर सकता है और पुनः मनुष्य जीवन भी पा सकता है। मनुष्य पुरुष—लिंग का त्याग करके आगामी जीवन में नारी का रूप भी ग्रहण कर सकता है। इसी तरह इस जन्म की स्त्री आगामी जन्म में पुरुष का जीवन प्राप्त कर सकती है। दुनिया में कई तरह के सिद्धान्तों का प्रचलन है, जिनमें से किसी का शायद यह भी कथन है कि मनुष्य मरकर केवल मनुष्य ही बनता है तथा इसमें भी पुरुष फिर से पुरुष और स्त्री फिर से स्त्री ही का जन्म धारण करती है। पशु मर करके फिर से पशु ही बनता है।

किन्तु कर्म—सिद्धान्त की दृष्टि से यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इस जीवन से आगामी जीवन की गति का निर्धारण यहाँ किये हुए कर्मों के आधार पर होता है। अब यदि यह मानें कि पुरुष मर कर पुरुष ही बनता है, तो क्या सभी पुरुषों में कर्मों की एक समानता ही रहती है, जिससे कि उनकी गति एक—सी ही हो ? ऐसा कहीं नहीं दिखायी देता है। आन्तरिक परिणामों की दृष्टि से पुरुषों—पुरुषों में ही अथवा स्त्रियों—स्त्रियों में ही भारी विभेद दिखायी देता है— फिर सभी की समान गति के आयुष्य का एक—सा बंध कैसे हो सकता है ? अतः ऐसे भ्रामक कथनों को छोड़कर वीतराग के सर्वकाल सत्य सिद्धान्तों को समझने के लिए गहन चिन्तन का आश्रय लें, तो वास्तविक स्थिति प्रकाशित हो सकेगी। इसी वास्तविक स्थिति के प्रकाश में यह स्पष्ट हो सकेगा कि किस प्रकार आन्तरिक परिणामों को उनकी उत्कृष्ट दिशा में ले जाया जाये तथा गति की स्थिति सुधारी जाये।

t S k def o S h xfr

वीतराग देव ने तो यहाँ तक कहा है कि मनुष्य जीवन के रूप में पशु के स्वभाव से रहनेवाला मानव भी यदि पशु-गति के योग्य कर्मों का उपार्जन कर लेता है, तो वह मनुष्य का शरीर छोड़ने के बाद पशु-शरीर धारण कर लेता है। पशु-योनि को तिर्यच गति कहा है और इस गति में जाने के कारणों के विषय में शास्त्र का कथन है कि माया, कपट, प्रपंच, कुटिलाई ये सब तिर्यच गति का बंध करानेवाले हैं।

श्रीमद् टाणांग सूत्र में तिर्यच गति के चार कारण बताये गये हैं। जब इन चार स्थानों से आत्मा कर्मों का उपार्जन करती है, तो वह पशु-योनि के आयुष्य का बंध करती है। इनमें पहला कारण बताया है— “माया”। पुरुष होकर यदि मायावी आचरण बनाता है, छल करता है और किये हुए कुकर्मों को दबाने की कुचेष्टा करता है तथा उस समय में यदि उसके आगामी जीवन के आयुष्य का बंध होता है, तो पशु-योनि का बंध कर सकता है। माया साधारण रूप में भी की जा सकती है तथा उसका प्रगाढ़ रूप भी हो सकता है। गाढ़ माया उसे कहते हैं, जहाँ मनुष्य के व्यवहार से उसके मन का तनिक भी पता नहीं लग सके। वह कहता क्या है— जताता क्या है और करना क्या चाहेगा— इसका अनुमान तक नहीं लगता। ऐसा आचरण गाढ़ माया का होता है।

प्रगाढ़ रूप से मायावी पुरुष के अन्तःकरण को कोई पहिचान नहीं सकता है। ऐसे लोगों का ऊपर का व्यवहार बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है, लेकिन भीतर में गाढ़ माया होने से ऐसे स्वभाव के लोग तिर्यच गति का आयुष्य बाँध लेते हैं। इस प्रकार माया का कर्म तिर्यच गति की ओर ले जाता है।

fr; p&xfr ds dlj. k

तिर्यच-गति के बंध के जिन कारणों पर यहाँ प्रकाश डाला गया है, उन्हें एक रूपक से स्पष्ट रूप से समझिए। किसी पुरुष को

एक भयंकर रोग ने घेर लिया, किन्तु कई उपचार करने पर भी उसकी वह व्याधि बढ़ती ही गयी। तब वह अति दुःखित होकर चिन्ताग्रस्त बना एक प्रसिद्ध डाक्टर के पास पहुँचा। उसने सोचा कि अब रोग से उसकी निवृत्ति अवश्य हो जायेगी। आजकल की परम्परा आप जानते हैं और उसी के अनुसार वह पहले डॉक्टर के बंगले पर पहुँचा, ताकि पहले उनको फीस दे दी जायेगी, तो फिर राजकीय अस्पताल में वे उसकी चिकित्सा का खास ध्यान रखेंगे। डॉक्टरों ने जो ऐसी मायावी परम्परा बना रखी है, वह भी उनके लिए कर्म-बंध का एक कारण है।

वह रोगी जब डॉक्टर के निवास-स्थान पर पहुँचा, तो डॉक्टर के सामने गिड़गिड़ाने लगा कि वह अपने भयानक रोग से निराश होकर उनके पास पहुँचा है, अतः वे अपनी यशस्वी प्रतिष्ठा के अनुसार उसकी चिकित्सा करें तथा इसमें जो भी खर्च आयेगा, वह उसको वहन करने के लिए सहर्ष तैयार है। तब उसने दस हजार रुपये डॉक्टर को देने का वादा किया। डॉक्टर ने भी अपने उपकरणों से रोगी का परीक्षण किया और रोग का निदान कर दिया। रोगी बाहर गाँव का था तथा उसके पास उस समय पचास हजार रुपये थे, तो उसने सोचा कि चिकित्सा के समय यह जोखिम अपने पास रखना उचित नहीं है, अतः उसने यह राशि डॉक्टर को सम्हला दी। उस समय डॉक्टर के मन में तो कुछ और बात आयी, किन्तु ऊपर से उसने ऐसा व्यवहार जताया कि रोगी को उसकी ईमानदारी का पक्का विश्वास हो गया।

अब देखिए कि डॉक्टर के मन की गाढ़ माया किस प्रकार कार्य करती है ? पहले तो रोगी को उन्होंने कुछ ऐसी औषधियाँ दीं, जिससे रोगी को विश्वास होने लगा कि वह स्वस्थ हो रहा है। उस चिकित्सा के प्रति उसके मन में निष्ठा बन गयी। डॉक्टर के मन में यह था कि रोगी को स्वस्थ बना देने पर तो दस हजार रुपये ही मिलेंगे, लेकिन किसी तरीके से यदि इसकी जीवन लीला समाप्त कर

दी जाये, तो पूरे पचास हजार अपने हो जायेंगे। चंद चांदी के टुकड़ों के लिए मनुष्य की नीयत किस हद तक बिगड़ती है और वह कैसी प्रगाढ़ माया के जाल में उलझकर तिर्यच गति का बंध करता है— यह इस उदाहरण से स्पष्ट होता है।

यह सोचकर डॉक्टर ने विभिन्न रसायनों का एक ऐसा मादक इन्जेक्शन तैयार किया और रोगी को कहा कि यह इन्जेक्शन, जो तुम्हारे लगाया जा रहा है, तुम्हें सदा के लिए रोग मुक्त बना देगा। रोगी अति प्रसन्न हुआ—कारण स्पष्ट था कि यह पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा। डॉक्टर भी अति प्रसन्न था, क्योंकि वह कुछ और ही सोच रहा था। डॉक्टर ने वह इन्जेक्शन रोगी के लगा दिया और उसके अन्त की प्रतीक्षा करने लगा। लेकिन प्रकृति ऐसी बदली कि रोगी उससे पूर्ण स्वस्थ हो गया। वह डॉक्टर का भारी गुणगान करने लगा। किन्तु आप इसके भावानात्मक पहलू की ओर ध्यान दें। रोगी तो डॉक्टर के प्रति कृतज्ञता की भावना शुरू से आखिर तक लेकर चल रहा है, किन्तु डॉक्टर की मानसिक प्रक्रिया किस प्रकार चली ?

xk+ek k dk nñi fj. We

डॉक्टर ने बाहर से तो इस तरह बताया, जैसे वह अपने कार्य को कर्तव्य बुद्धि के साथ कर रहा हो, जबकि बीच में उसके मन में माया समा गयी और वह माया भी साधारण नहीं, गाढ़ा माया थी। यदि उस समय उस के आयुष्य का बंध होता, तो वह तिर्यच गति का ही आयुष्य होता।

शास्त्रकारों ने इस गाढ़ माया के कई रूप बताये हैं तथा इसके दुष्परिणामों का भी विवेचन किया है। आज इस गाढ़ माया के विभिन्न रूपों के दर्शन तो आप यत्र—तत्र—सर्वत्र कर सकते हैं, क्योंकि इस युग में मायावी आचरण का अत्यधिक व्यापक प्रसार हो गया है। परिवार तक में देखिए कि एक सदस्य दूसरे सदस्य को किस प्रकार की माया एवं कुटिलाई से ठगने की चेष्टा करता है। समाज के

रंगमंच पर भी यह दृश्य आपकी दृष्टि में आ सकता है, जबकि राजनैतिक रंगमंच पर तो आपको माया का तांडव नृत्य होता हुआ दिखायी देगा। इस कुटिल मायावी आचरण को राजनीतिक क्षेत्र में कूटनीति या पॉलिटिकल चाल कहा जाता है। मानव के मन में मायाचार ऐसा व्याप्त हो रहा है कि ऊपर कुछ और है, अन्दर कुछ और है तथा बर्ताव में कुछ और ही। यह मानव इस माया के पीछे अपने आपके स्वरूप को तथा अपनी गति-प्रगति को भूलकर पशु-योनि की तैयारी कर लेता है।

यदि किसी को पशु-गति से बचना है तथा पशु नहीं बनना है, तो गाढ़ माया के शास्त्रोक्त लक्षणों तथा इसके दुष्परिणामों को सदा ध्यान में रखने की आवश्यकता है, ताकि उसके कारणों की ओर कार्यो का रूख न मुड़े। माया साधारण रूप से भी छोड़ी जानी चाहिए तथा गाढ़ माया की ओर तो आत्मा के परिणाम मुड़ने ही नहीं चाहिए।

ek k vkj > dh t lMh

तिर्यच गति के आयुष्य-बंध के माया और गाढ़ माया के कारणों के बाद झूठ को अगला कारण बताया गया है। जहाँ मायावी व्यवहार होता है, वहाँ झूठ तो उसके साथ जुड़ता ही है। यही कारण है कि आज आप जिधर भी देखें- असत्य तो दाल-रोटी की तरह बना हुआ है कि जिसके बोले बगैर तो जैसे एक कदम भी चलना मुश्किल हो जायेगा। बात-बात में असत्य प्रकट होता है और उसमें झूठ बोलनेवाले को किसी प्रकार की लज्जा अथवा ग्लानि का भी अनुभव नहीं होता। मजाक में, वार्ता में, खाने-पीने में और साधारण से साधारण व्यवहार में भी स्थान-स्थान पर असत्य भाषण खुलकर चलता रहता है। जितना यह झूठ बढ़ा है, मनुष्य के मन की स्थिरता एवं दृढ़ता जाती रही है। माया और झूठ की ऐसी जोड़ी है, जिसे एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में देखा जा सकता है।

असत्य ही पर आधारित अगला लक्षण है— कूड़ा तोलना और कूड़ा मापना। तोल और माप में झूठ— यह भी असत्य आचरण का ही एक पहलू है। इसी के अन्य पहलू हैं— वस्तु में भेल—संभेल (मिलावट) करना, असली चीज का मूल्य करना और उसकी जगह नकली वस्तु दे देना आदि। इन सभी कार्यों में पूरे तौर पर माया एवं असत्य का मिश्रण होता है तथा ऐसे कार्यों से होनेवाला आयुष्य बंध तिर्यच गति का होता है।

ये सब छल, कपट और झूठ के जो कार्य हैं, निश्चय ही मनुष्यता से परे तथा पशुता के भावों से ओतप्रोत होते हैं, अतः ऐसे जघन्य कार्यों को बेखटके करते हुए भी यदि मनुष्य कल्पना करता है कि वह इस मानव-जीवन को समाप्त करने के बाद पुनः मनुष्य-गति ही प्राप्त करेगा, तो उसकी ऐसी कल्पना व्यर्थ है।

viuh xfr Lo; a t kuls

शास्त्रीय दृष्टिकोण ने दर्पण के समान सारी स्थिति को एक अध्येता के समक्ष इतनी स्पष्ट बना रखा है कि किसी को पूछने की जरूरत नहीं कि वह मरकर किस गति में जायेगा ? यदि वह अपनी मनोवृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर ले तथा उनके रूप को शास्त्रीय व्याख्याओं के संदर्भ में तोल ले, तो परिणाम सामने आ जायेगा। इस तरह अपनी भावी गति स्वयं ही के द्वारा भलीभाँति जानी जा सकती है।

मन में जिस प्रकार की वृत्तियाँ चलती हैं, वैसा ही उसका व्यवहार ढलता है तथा विचार और आचरण मिलकर जीवन का एक प्रकार का स्वरूप उपस्थित करते हैं। वह स्वरूप ही कसौटी है कि जैसे स्वरूप के साथ वह आत्मा भविष्य में किस गति में जायेगी ? कारण, जिस प्रकार के कार्य जीवन में हो रहे हैं और उनके निमित्त से जिस प्रकार के कर्मों का बंध हो रहा है, उन कर्मों का वैसा फल तो मिलने ही वाला है। कर्म विपाक कभी टलता नहीं है।

सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि कर्म विपाक एवं उसकी

प्रक्रिया को समझकर विचारपूर्वक कर्मक्षय के सम्बन्ध में सोचने का काम भी इसी मनुष्य-गति में संभव है। अन्य गतियों में तो वैचारिक स्थिति भी नहीं बनती है, तब कर्मक्षय के कार्य में जुटने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उच्च पशु-योनि में कहीं कुछ सद्विचार या सत्कार्य की स्थिति बनती है, किन्तु विचार एवं आचरण के निर्माण का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र यह मनुष्य-जीवन ही है— इसमें कोई संदेह नहीं।

अपनी गति को स्वयं जानने का अर्थ यह है कि अपने सत्प्रयास से कम से कम अभी वर्तमान में जो स्थिति है, उससे तो नीचे नहीं गिरा जाये यानि मनुष्य-जीवन में ऐसे कर्म-बंध तो कम से कम नहीं किये जायें कि इस जीवन के बाद पुनः मनुष्य-जीवन प्राप्त न हो। यदि ऐसा निश्चय करें, तो यह सतर्कता आवश्यक ही है कि नरक गति एवं पशु-गति के योग्य निकाचित एवं मायावी कार्यों से तो दूर ही रहा जाये। आत्मा यदि ऐसे दलदल में एक बार फंस जाती है, तो वहाँ से निस्तार कब हो सके— इसका भी कुछ पता नहीं।

ekuo&t bou dh l Pph dyk

यह कर्म-सिद्धान्त जितना मनोवैज्ञानिक है, उतना ही आध्यात्मिक भी है। यह प्रेरित करता है कि आप मन को नियंत्रित करके जितना संयमित बना सकेंगे, उतना ही आपका जीवन आत्माभिमुखी बन सकेगा। जितना आप संसार के इन दृश्य एवं भौतिक पदार्थों में आनन्द लेते हैं, उतना ही मन चंचल होकर परिणामों की तीव्रता एवं निम्नता में भटकता है और इसके कारण तीव्रतम कर्मों का बंध होता है। कर्म-बंध की जैसी तीव्रता होगी, वैसा ही कष्टदायक उसका फल भी होगा। फल के इस कष्ट को सहने में यदि फिर आर्त और रौद्र ध्यान प्रबल बनते हैं, तो उसके साथ ही नवीन कर्म-बंध का क्रम चलता रहता है। इस प्रकार यह श्रृंखला चलती रहती है, तब तक आत्मा जन्म-मरण के कठिन चक्र से उबरती नहीं है।

अतः इस श्रृंखला को तोड़ना एवं समता की साधना करना ही मानव-जीवन की सच्ची कला है। कर्म-सिद्धान्त का अध्ययन यह बताता है कि आप क्या करेंगे, तो उसका फल या उसकी गति क्या होगी। इस श्रृंखला को तोड़ने का आधार इसी ज्ञान को बनाया जाना चाहिए। इस ज्ञान और कला के साथ आप इतने कुशल बन जायेंगे कि परलोक की आपकी कहाँ की यात्रा निश्चित हुई है— इसे सिर्फ आप जानेंगे ही नहीं, बल्कि उसका निश्चय करना भी आपके आधीन बन जायेगा। तब आप परमात्म-स्वरूप के भी समीप जाने लगेंगे। कर्म-सिद्धान्त की सूक्ष्मता पर इस कारण गहन अध्ययन करें और इस मानव-जीवन में सच्चे कलाकार बनें।



भद्रता, मधुरता और सरलता

*Yù iHqftu rā eq vā: js-----***

पद्म प्रभु की प्रार्थना को मंगलाचरण के रूप में उच्चरित करते हुए आत्मा एवं परमात्मा के बीच विद्यमान अन्तर के हेतुओं पर विचार किया जा रहा है। इसका मुख्य हेतु कर्म-विपाक है। कर्मों के फल के कारण ही संसार में विविध एवं विचित्र दृश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परमात्मा और आत्मा में तो उसके कारण विभेद देख ही रहे हैं, किन्तु इसी के कारण मनुष्य और मनुष्य में भी भेद दिखायी देते हैं। सभी मनुष्यों की स्थितियाँ समान दृष्टिगत नहीं होती हैं। एक व्यक्ति कुशाग्र- बुद्धिवाला है, तो दूसरे की मन्द बुद्धि दयनीय स्थिति में कार्य करती है। एक पुरुष को हर समय कुछ न कुछ रोग लगा रहता है, तो दूसरा नीरोग बना रहता है। एक मनुष्य मन से सुखी है, तो दूसरा किसी न किसी चिन्ता और दुःख में घुलता रहता है। यह तो मनुष्यों के बीच भावनात्मक भेद की बात है, लेकिन शारीरिक दृष्टि से भी उनमें भेद दिखायी देते हैं। एक की आकृति दूसरे से हूबहू नहीं मिलती। शारीरिक संगठन भी अलग-अलग दिखते हैं, तो जो यह सारा अन्तर दृष्टि में आ रहा है, उसके पीछे कर्मों का ही विपाक या फल है।

एक व्यक्ति जन्म से ही मानसिक या शारीरिक शक्तियों से सम्पन्न होता है, तो एक को कई दुर्बलताएँ जन्म से ही घेरे रहती हैं। तरुणाई में पहुँचने पर बचपन की वह आकृति भी बनी नहीं रहती है। जैसे ही विभिन्न इन्द्रियों की शक्ति का प्रसंग भी विचित्र रूप से सामने आता है। इन्द्रियों की आकृतियों एवं शक्तियों में भी फर्क दिखायी देता है। मानव-सृष्टि में ये जो विचित्रताएँ अथवा विविधताएँ दिखायी दे रही हैं, आवश्यक है कि इनके कारणों की खोज की जाये, क्योंकि बिना कारण से कोई कार्य बनता नहीं है तथा कार्य का जो रूप-अपरूप होता है, उसके पीछे भी उसके अपने कारण होते हैं।

vud'akku dh lrr i'0:k

सृष्टि के इस वैचित्र्य पर साधकों ने अपने प्रखर ज्ञान एवं अनुभव के क्षेत्र में अनुसंधान किया है एवं उसके परिणाम उन्होंने संसार के समक्ष प्रकट किये हैं। आज भी साधक अपनी साधना के बल से इसके कारणों के बारे में खोज कर रहे हैं। बहुत से वैज्ञानिकों के अनुसंधान भी अपनी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर इस क्षेत्र में चालू हैं। एक प्रकार से मानव समाज में सभी प्रकार के विभेदों के सम्बन्ध में अनुसंधान की एक सतत प्रक्रिया चल रही है।

एक सत्य इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य है कि इन सारे विभेदों के मूल का अनुसंधान प्रयोगशालाओं में होनेवाला नहीं है। वैज्ञानिक लोग भौतिक दृष्टि से भले ही अन्वेषण कर लें, किन्तु भौतिक पिंड भी अनन्त हैं और उन अनन्त पिंडों के रहस्य का उद्घाटन कर लेना भी शक्य नहीं है। इस विश्व में रहे हुए भौतिक तत्व भी अनन्त हैं, किन्तु प्रयोगशालाओं के साधन सीमित हैं और उन यंत्रों के साथ वैज्ञानिकों की शक्ति भी सीमित है। इन यंत्रों के द्वारा कल जो ज्ञात किया था, कई बार वह आज के प्रयोगों में गलत साबित हो जाता है। ऐसे परिवर्तनों के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वैज्ञानिकों की खोजें किसी एक निश्चित दिशा में बढ़ रही

हैं और इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि विज्ञान मनुष्य को आत्म-विकास के एक निश्चित मार्ग पर अग्रसर नहीं बना सकता है।

वैज्ञानिकों द्वारा चन्द्रतल की खोजों ने आज मानव-मन को झकझोर दिया है। इन खोजों में भी चेतना-शक्ति की ही प्रमुखता है, फिर भी एक खोज पूर्ण नहीं होती, वह नये-नये रहस्यों की समस्याओं को सामने लाती रहती है। इस श्रृंखला में एक तत्व के प्रति सुनिश्चितता नहीं आती और मुख्य बात तो यह है कि इस विज्ञान का आधार केवल भौतिकता है और केवल भौतिकता संसार की चेतन शक्तियों के रहस्यों का अनुसंधान नहीं कर सकती है।

प्रकृत शक्ति का आधार

आधुनिक विज्ञान का आधार यदि चैतन्य तत्व की प्रमुखता पर टिकाया जाये, तो ज्ञान-क्षेत्र अभिवृद्ध हो सकता है, किन्तु वह विज्ञान फिर सिर्फ प्रयोगशालाओं का ही वस्तु विषय नहीं रहेगा। उसे साधकों के चिन्तन क्षेत्र में ले जाना होगा। यद्यपि इस भौतिक विज्ञान का संचालन तो चैतन्यशक्ति द्वारा ही होता है और इसको प्राणवान स्फुरणा देनेवाला तत्व चैतन्य ही है, फिर भी इस शक्ति का प्रयोग केवल भौतिक पिंडों पर ही किया जा रहा है। शरीर पिंड के सिवाय आत्म-तत्व की अनुभूति की ओर यदि ध्यान दिया जाये, तो प्रतीत होगा कि सभी मनुष्य वैज्ञानिक नहीं बन जाते। जिसकी आत्मा में ज्ञान-शक्ति प्रखर होती है, वही विज्ञान के क्षेत्र में शोध और अनुसंधान की दृष्टि से उन्नति करता है। यही नहीं, एक वैज्ञानिक की योग्यता से दूसरे वैज्ञानिक की योग्यता में भी अन्तर होता है। यह अन्तर ही विचित्र है और शोध का प्रमुख विषय है, किन्तु ऐसी शोध तभी सफल परिणाम ला सकती है, जब उसके कार्य क्षेत्र में चैतन्य तत्व की प्रमुखता हो।

संसार के समग्र पदार्थों, तथ्यों, रहस्यों एवं तत्वों का अनुसंधान न किया जा सका हो अथवा न किया जा सके— ऐसी बात नहीं है।

यह कार्य निश्चय ही भौतिक वैज्ञानिकों के लिए असंभव है, परन्तु आध्यात्मिक चिन्तकों के लिए यह संभव बना है और संभव बनता रहेगा। सच पूछा जाये, तो सारे भौतिक विज्ञान का मूल स्रोत भी आध्यात्मिक चिन्तन ही होता है। यदि आत्माभिमुखी बनकर चिन्तन किया जाता है, तो सारा विश्व “हस्तामलकवत्” देखा जा सकता है। ज्ञानियों के सर्व-व्यापक ज्ञान में समस्त विश्व एक छोटे से बिन्दु की तरह केन्द्रित हो जाता है तथा सर्वज्ञ दृष्टि से समस्त पदार्थों एवं तत्वों का उन्हें स्पष्ट बोध हो जाता है।

, d l s l o z v k l o z l s , d

ज्ञान के इस विस्तार की दृष्टि से ही वीतराग देव का कथन है कि—

t s , x a t k l b / r s l Q a t k l b A

t s l Q a t k l b / r s , x a t k l b A A

अर्थात् जो एक तत्व को उसके समूचे स्वरूप से जान लेता है, वह सर्व तत्वों के स्वरूपों को भी समग्र रूप से जान लेता है और जो सबको जानता है, वह एक को भी जानता है। यह कथन आन्तरिक सत्य से परिपूर्ण है। एक आत्म-तत्व को समझने के लिए जितना श्रम किया जायेगा, उसके लिए गहरी खोज में डूबा जायेगा और यदि उस तत्व का निर्णय प्राप्त हो जायेगा, तो समझ लीजिए कि सारे विश्व के समूचे तत्वों का ज्ञान भी सरल बन जायेगा।

ऐसा क्यों कहा गया है ? यह इसलिए कि आत्मा ही चैतन्य रूप होने से इस सृष्टि का प्रधान कार्यकारी तत्व है। सृष्टि के मूल में देखें या विकास में— यही तत्व अपनी क्रियाओं-प्रक्रियाओं से चित्र-विचित्र दृश्य प्रस्तुत करता रहता है। यह आत्मिक-तत्व मूल रूप से सभी आत्माओं में एक समान होता है। परन्तु जो इनमें भेद दिखायी देता है, वह इनके बीच रहे हुए विकास अथवा अविकास की

दृष्टि से है। विकास में इस प्रकार की भिन्नताएँ क्यों हैं— यही अनुसंधान का मुख्य विषय है। जब तक इन विभिन्नताओं का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करके इनके कारणों का अनुसंधान नहीं कर लेंगे, तब तक न तो संसार के सभी रहस्यों का ज्ञान हो सकेगा और न ही आत्मा तथा परमात्मा के अन्तर को दूर करने का निश्चित मार्ग मिल सकेगा।

इसलिए कहा गया है कि जो सारे संसार को क्रियाशील बनाने एवं विविध रचनाओं का निर्माण करनेवाले एक आत्म-तत्त्व को जान लेता है, वह उस स्पष्ट ज्ञान के द्वारा फिर संसार के सर्वतत्त्वों एवं उनकी प्रक्रियाओं को आसानी से जान लेता है। इसी कथन को दूसरे छोर से पुनरावृत्त इसलिए किया गया है कि जो जितना संसार के सर्व तत्त्वों को स्पष्टता से जानता है, वह एक आत्मतत्त्व को अधिक गहराई से— अधिक सूक्ष्मता से इस तरह जानता है कि वह उस एक तत्त्व के आधार पर अपना सर्वोच्च विकास साध लेता है।

deZfoi kd gh ew dlj. k gA

प्रार्थना की पंक्तियों में संकेत दिया गया है कि—

deZfoi kds dlj. k t kbus jA

*dlbZdgs efreA***

मानव कर्मों के विपाक के जरिये उस कारण को ढूँढे। इसके अतिरिक्त अन्य उपायों से सही कारण ज्ञात नहीं हो सकेगा। संसार में व्याप्त विभेद एवं विषमता के मूल में कर्म-विपाक ही दिखायी दे रहा है और यह कर्म-विपाक अन्य कुछ नहीं, बल्कि आत्मा की ही अधीन स्थिति है। जैसा कर्म आत्मा उपार्जन करती है, वैसे ही दृश्य इस सृष्टि में दिखायी देते हैं। यह विषमता शारीरिक इन्द्रिय सम्बन्धी हो, बौद्धिक धरातल और मानसिक चिन्तन की हो अथवा आत्मिक शक्ति के विकास-हास की हो— परन्तु सब के पीछे कर्म-विपाक की

स्थिति ही वैज्ञानिक रीति से जुड़ रही है। यह वैज्ञानिक रीति किसी भौतिक प्रयोगशाला की नहीं, बल्कि उन प्रबुद्ध चेतनाशक्तियों—तीर्थकरों की है, जिन्होंने इस विषय पर गहन अनुसंधान करके कर्म—सिद्धान्तों का निरूपण किया।

आत्मा किन—किन कर्मों से किस—किस प्रकार से अलग—अलग जीवनों एवं गुणों को धारण करती है और अलग—अलग रीति से सृष्टि में किस प्रकार अपना कार्य करती है— यह सब कर्म—सिद्धान्त का विषय है और जो इस विषय को पूरे तौर पर समझ लेता है, वह वस्तुतः आत्म—तत्त्व को भी समझ लेता है। कर्म विपाक की दृष्टि से ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं मोहनीय कर्मों के बाद अब आयुष्य कर्म पर विचार चल रहा है, जिसमें नरक एवं पशु—योनियों के आयुष्य के कारणों के बाद अब मनुष्य योनि के आयुष्य—बंध के कारणों के सम्बन्ध में जानकारी ली जाये। आयुष्य भी एक प्रकार का कर्म है, जो जब आत्मा के साथ संयुक्त होता है, तो उसके फलरूप में आत्मा को उस शरीर में अमुक अवधि तक रहना होता है। इसे आत्मा द्वारा एक शरीर धारण कह सकते हैं, जो किसी अन्य तत्व की प्रेरणा से नहीं, बल्कि स्वयं आत्मा की अपनी ही भावना एवं करणी के आधार पर निश्चित होता है। यह निश्चय कर्म—बंध के जरिये होता है तथा उस बंध के अनुसार फलरूप में वह निश्चित जीवन प्राप्त होता है। किन्तु इस सारी प्रक्रिया में कर्ता आत्मा ही होती है, जो कर्म का उपाजन करती है।

fQj euq; &xfr dš s fey xh |

जब यह सारा गति—क्रम आत्मा ही के अधीन है, तो आत्मा के लिए यह जानकारी जरूरी है कि वह किन उपायों का आश्रय लें, ताकि इस मनुष्य—जीवन के बाद फिर से मनुष्य—गति ही प्राप्त हो सके। मनुष्य—गति के आयुष्य—बंध के कारणों का ज्ञान होने पर यदि आत्मा तदनुकूल प्रवृत्तियों पर चले, तो फिर मनुष्य—जीवन मिल

सकता है। श्रीमद् टाणांग सूत्र में इसके चार कारण बताये गये हैं और कहा गया है कि यदि इस जीवन में इन चारों कारणों की पूर्ति हो सके, तो मनुष्य- गति का आयुष्य-बंध हो सकता है।

पहला कारण यह बताया गया है कि मनुष्य अपने स्वभाव से भद्र हो। उसके व्यवहार से सच्ची सज्जनता की झलक मिलनी चाहिए। भद्र वही कहा जायेगा, जिसकी प्रकृति में छल-बल और मान-अहंकार नहीं हों- क्रोधी-वृत्ति और क्रूरता नहीं हो तथा लोभवश हिंसक तृष्णा का प्रसार नहीं हो- अपितु जिसके स्वभाव में सरलता हो और जो निष्ठा एवं सहृदयता से सबके साथ व्यवहार करता हो। एक भद्र पुरुष न केवल प्रत्येक मनुष्य के साथ, अपितु प्रत्येक प्राणी के साथ ईमानदारी से बर्ताव करता है। उसके जीवन में स्वाभाविक रूप से विनय का समावेश होता है। वह बड़ों के प्रति विनम्र, गुणीजनों के प्रति सम्मानपूर्ण तथा पड़ौसियों व अन्य व्यक्तियों के प्रति सहयोगपूर्ण रहता है। भद्रता में भी विनय के गुण को प्रमुखता दी गयी है, जिससे इसको दूसरे कारण के रूप में लिया गया है। जो विनयशील हो, किसी भी प्राणी की निरर्थक अवहेलना नहीं करता हो और पूज्यों की आशातना नहीं करता हो- वैसा मनुष्य यह सोच सकता है कि भद्रता एवं नम्रता के दो कारणों की पूर्ति करते हुए वह मनुष्य-गति के आयुष्य-बंध की साधन-सामग्री जुटा रहा है।

तीसरा कारण है "साणुकसाया" अर्थात् जिसके अन्तःकरण में मन्द कषाय हो और जिसमें अनुकम्पा की भावना हो, तो वह "साणुकोसेयाएहिए " कहलाता है। यह विशेषण अरिष्टनेमि प्रभु के लिए आया है। यह उनके उस समय का गुण है, जब वे बारात सजाकर तोरण तक गये, किन्तु पशु-पक्षियों के करुण क्रन्दन से अनुकम्पित होकर वापिस लौट गये। यह विशेषण सहानुभूति-सूचक है। इस प्रकार उनके स्वाभाविक गुण का प्रकटीकरण हुआ तथा उसका संसार पर समुचित प्रभाव पड़ा। ऐसे गुण का विकास जो भी मनुष्य अपने इस जीवन में करता है, वह नये मानव-जीवन की पाल

बाँधता है। दुःखियों के दुःख को देखकर जिसके मन में 'साणुकोसियाए' की भावना नहीं आती, उसके जीवन को भद्र और नम्र भी नहीं कह सकते हैं। यह उसके मन की क्रूरता का लक्षण होगा। ऐसी क्रूरता यानि मन के न पिघलने की स्थिति मनुष्य को तिर्यच गति की ओर ले जाती है। चौथा कारण है— अमत्सरवृत्ति अर्थात् ईर्ष्या—वृत्ति को मन में स्थान नहीं देना। ईर्ष्या मनुष्य के स्वभाव को निकृष्ट बनाती है, क्योंकि यह दूसरे के प्रति जलन से पैदा होती है। अतः मत्सर—भावना को छोड़ना जरूरी है। इन चार कारण रूप चार गुणों को जो अपने जीवन में उतारकर चलता है, वह आगे भी मनुष्य—गति का बन्ध करता है।

f'kyll/kl Bkl vk/lkj ij gks

इन गुणों के साथ भावी जीवन का शिलान्यास यदि ठोस आधार पर किया जाता है, तो वह निर्माण भी सुदृढ़ होता है। इस अमूल्य मानव—जीवन को यदि दुर्गुणों का शिकार बना दिया जाये और विपरीत चिन्तन से हिंसक, क्रूर, मायावी आदि रूपों में इसे ढाल दें, तो फिर समझना होगा कि आगामी जीवन की नींव रेत के टीले पर रखी जा रही है, जिस कारण सुदृढ़ता की आशा नहीं की जा सकती है।

आगामी मानव—जीवन का शिलान्यास ठोस आधार पर हो— इस दृष्टि से तत्त्वार्थ सूत्र में भी चार हेतुओं का वर्णन आया है। मनुष्य गति के आयुष्यबंध के लिए व्यक्ति को 'अल्पारंभी' होना चाहिए। वह आरंभ—समारंभ में लिप्त नहीं हो और जो आरंभ भी उसे अपनी परिस्थितियों में करना पड़ता हो, उसके प्रति उसका अनासक्त एवं उदासीन भाव हो। परिग्रह एवं उसकी ममता की दृष्टि से भी उसे 'अल्प परिग्रही' बनना चाहिए। अल्प परिग्रह की भावना— यह समता—दर्शन का द्योतन करनेवाली है और बाह्य दृष्टि से इसे ही समाजवाद कह सकते हैं। महापरिग्रही ममत्व की दुर्बुद्धि से चारों ओर

विषमता फैलाता है, वहाँ अल्प परिग्रही समता—बुद्धि से समानता के वातावरण की रचना करता है। परिग्रह के सम—वितरण में आस्था रखनेवाला मनुष्य आगे भी मनुष्य बनने का अवसर बना लेता है।

भावी जीवनोँ का मूल इसी जीवन में है और जो इस जीवन को बना लेता है, वह भावी जीवनोँ को भी बना लेता है। इस बनाने का अर्थ है कि पतन से उत्थान की ओर आत्मा की गति को मोड़ दिया जाये। यदि वह महारंभ और महा—परिग्रह की लिप्तता को नहीं छोड़ पाती है, तो आगे भी पतन के गर्त से निकल नहीं सकेगी और उसके लिए यह नुकसान का सौदा होगा कि मनुष्य—जीवन से पशु या नरक के जीवन में पहुँच जाये। आरंभ और परिग्रह की अल्पता की ओर जब जीवन की वृत्ति ढलती है, तो भावी जीवन की नींव जमती है। महारंभ की क्रूरता और महा—परिग्रह की ममता की आंधी जब थमती है, तभी सद्विचारों एवं सद्गुणों का 'शीतल मन्द सुगन्ध' समीर प्रवाहित हो सकता है। यही समीर आध्यात्मिक सुमनों को खिलाता है।

1 E; d~nf"V vlt; Lollho&eknZ

उसी जीवन में आध्यात्मिकता का प्रवेश होता है, जिस जीवन में आरंभ एवं परिग्रह के प्रति तटस्थ भाव है। प्रभु महावीर ने इसीलिए निर्देश किया है कि इस तटस्थ भावना से पहले सम्यक्दृष्टि बनो, क्योंकि जब दृष्टि सम्यक् बनेगी, तभी तो भाव, आस्था और आचरण भी सम्यक् बन सकेंगे। आध्यात्मिकता का प्रारम्भ है, सम्यक्दृष्टि बनना। तदनन्तर श्रावक के व्रतों को धारण किया जाये और द्रव्य—परिग्रह की भी मर्यादा बाँधी जाये। इसका अर्थ होगा कि जीवन अल्प—परिग्रही बन जायेगा। इस जीवन में तृष्णा का वेग कम होगा, जिससे मानसिक शान्ति बढ़ेगी। इस शान्ति का उसके समूचे जीवन पर विकासकारक प्रभाव पड़ेगा। शरीर का सुस्वास्थ्य उसे मिलेगा, तो मन और मस्तिष्क का सन्तुलन भी। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक चिन्तन

की ओर उसकी तल्लीनता जागृत बनेगी। आर्थिक-दृष्टि से आज चारों ओर जो विषमता फैल रही है, अल्प-परिग्रही बनने से उसके समाधान की दिशा भी प्रशस्त बनेगी।

इसके बाद स्वभाव की मार्दवता को लिया गया है। जो कठोर स्वभाव का न होकर मृदु स्वभाव का होता है तथा सबके साथ जो मधुर वाणी का प्रयोग करता है, वह सर्वप्रिय होकर मनुष्य-गति का बंध करता है। यहाँ मार्दवता से अभिप्राय यही है कि उसकी वाणी एवं कार्यविधि से सामनेवालों को प्रमोद उत्पन्न हो। मार्दवता वह है कि उसके प्रत्येक हाव-भाव से दूसरों को शांति और आनन्द मिले, जिसकी दिनचर्या में किसी को कहीं भी अशांति का अनुभव न हो। जब मनुष्य अल्पारम्भी एवं अल्प-परिग्रही हो तथा ऊपर से उसके व्यवहार में मधुरता भरी हुई हो, तो निश्चय ही वह मन से भी भद्र एवं नम्र ही होगा, क्योंकि जो मिटास विचारों में होगी, वही तो वाणी और कार्यविधि में उतरेगा। यह मनुष्य के स्व-नियंत्रण में है कि वह इन सद्गुणों को अपने जीवन में कार्यान्वित करके अपने ही हाथों अपने सुन्दर भविष्य का निर्माण कर ले।

भद्रता मधुरता सरलता

मनुष्य-गति के आयुष्य-बंध के संदर्भ में यदि सभी कारणों को समुच्चय दृष्टि से कहना चाहें, तो उन्हें तीन गुणों में समाविष्ट किया जा सकता है। वे हैं— भद्रता, मधुरता और सरलता। इस सरलता को आर्जवता भी कहते हैं। जो भद्र होगा, नम्र होगा—निश्चय ही उसका व्यवहार मधुर होगा और ऐसे गुणोंवाला पुरुष मन, वचन और कर्म से सरल भी अवश्य ही होगा। भद्र, मधुर और सरल व्यक्ति इस जीवन में भी सर्वप्रिय बनेगा, तो अपने इन गुणों के माध्यम से आगे भी मानव-जीवन की प्राप्ति को सुरक्षित बना लेगा।

जब भद्रता, मधुरता एवं सरलता के गुणों का उल्लेख किया जाता है, तो उनसे क्रोध, मान, माया व लोभ वृत्तियों के घटने या

समाप्त होने का अनुमान लगाना चाहिए। जहाँ मान व लोभ हैं, वहाँ भद्रता नहीं आ सकती है। क्रोध है तो मधुरता और माया है तो सरलता नहीं आ सकती है। इसका अर्थ है कि यदि इस मानव-जीवन को सफल बनाना है तथा आध्यात्मिक साधना की पूर्ति हेतु फिर से मानव-जीवन को प्राप्त करना है, तो इन विषय-कषाय की वृत्तियों को हल्की बनाते जाइए, ताकि भद्रता, मधुरता एवं सरलता के सद्गुण पुष्ट बनते जायें।

इन स्वाभाविक गुणों से सब में प्रमोद-भावना पैदा होती है। विकारहीन व्यवहार सदैव सबको प्रसन्न बनाता है। जैसे बच्चे से हरेक को प्रेम होता है— यह क्यों ? क्योंकि बच्चा निर्दोष और सरल होता है। वह उस समय तक अपनी प्राकृतिक मधुरता एवं सरलता को खोकर कृत्रिम संस्कारों को ग्रहण नहीं करता है। संसार के ये कृत्रिम संस्कार होते हैं— क्रोध के, मान के, माया के और लोभ के। बच्चा जन्म से स्वाभाविक होता है, किन्तु दुनिया को देख-देखकर कृत्रिम बनता जाता है। वह किससे ये संस्कार सीखता है ? उन्हीं लोगों से, जिनकी संगति में वह पलता है और बड़ा होता है। इसी संगति के फलस्वरूप वह मानवता के गुणों से दूर हटकर पशुता की कुप्रवृत्तियों में पड़ जाता है। जो मनुष्य सच्ची मनुष्यता के धारक होते हैं, वे ही सच्चे मनुष्य का निर्माण कर पाते हैं। माता-पिता सभी बनते हैं, लेकिन सच्चे माता-पिता वे ही कहलाते हैं, जो अपनी संतान को मनुष्यता के ढाँचे में ढाल सकें। यही कारण है कि संस्कार-निर्माण को अत्यधिक महत्व दिया गया है, जिसके बल पर पीढ़ियों का संस्कृति एवं सभ्यता की दृष्टि से निर्माण किया जाता है।

1 q 1dlj fuelZkij cy

सरल स्वभाव के साथ जन्मे बच्चे को बाद के संस्कार-निर्माण द्वारा यदि सरल और मधुर बनाये नहीं रख सकते हैं, तो इस दोष के भागी माता-पिता, शिक्षक से लेकर समाज, राष्ट्र और विश्व सभी हैं।

यह नयी पीढ़ी के साथ सभी का उत्तरदायित्व है कि वे उसमें सुसंस्कारों के निर्माण पर इस तरह बल दें कि नयी पीढ़ी में मानवोचित सद्गुणों का स्वस्थ रीति से विकास हो।

वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण को द्विजन्मा कहा है। एक तो वह माता की कुक्षि से जन्म लेता है, दूसरी बार वह जनेऊ पहनने के समय संस्कारों से जन्म लेता है। ऐसा ही वीतराग देव के सिद्धान्तों में भी प्रसंग है कि संस्कारों की दृष्टि से बालक के जीवन-निर्माण की ओर पूरा-पूरा ध्यान देना समाज के सभी अंगों का पवित्र कर्तव्य है। बच्चे के संस्कार-निर्माण के लिए उसको तदनुकूल वातावरण देना होगा। आप चाहते हैं कि बालक के संस्कार पवित्र बनें, तो आपको उसके चारों ओर के वातावरण को पवित्र रखना होगा। बालक को आप सरल बनाना चाहें और उसके सामने उसके माता-पिता क्रूरतापूर्ण मायावी व्यवहार करते हों, तो उन कुसंस्कारों से बालक अछूता थोड़े ही रह सकेगा ? संस्कारों का तो इतना प्रभाव पड़ता है कि एक बार रक्त के गुण भी बच्चा भूल जाता है। इस बारे में मनोवैज्ञानिकों एवं वैज्ञानिकों के प्रयोगों से भी यही साबित हुआ है कि संस्कारों का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि बचपन में बच्चे को जैसा वातावरण दिया जायेगा, वैसे ही उसके संस्कार बनेंगे और उन्हीं के अनुरूप उसका जीवन ढलेगा। इसी तरह सारे समाज या सारे राष्ट्र में यदि उन्नतिशील एवं चारित्रिक वातावरण की रचना की जा सके, तो उसमें नयी पीढ़ी को समान संस्कार मिलने से उसकी सामूहिक प्रगति का द्वार खुल सकता है।

उपर्युक्त सारे सद्गुणों को मनुष्य अपने जीवन में कार्यान्वित करे, तो एक ओर वह अपने आगामी जन्म को सुधार लेगा, तो दूसरी ओर नयी पीढ़ी के विकास को भी सुनिश्चित बना देगा।

vk gh vius Hk & fuekzk

आयुष्य कर्म की इन बारीकियों को समझकर यदि तत्सम्बन्धी

कारणों एवं गुणों की जीवन में पूर्ति की जाती है, तो वैसी ही गति की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए माना गया है कि आत्मा आप ही अपने भाग्य की निर्माता होती है— यह दूसरी बात है कि वह तदनुकूल विवेक को जागृत न करे एवं अपनी विस्मृति की अवस्था में अपने भाग्य को पर-पदार्थों के कुचक्र में भूल जाये। मन की चंचलता पर नियंत्रण रखकर अगर ऐसी वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ बनायी जायें, जिनसे मनुष्य गति का आयुष्य-बंध हो, तो वैसा आयुष्य अवश्य ही बंधेगा और देवगति के अनुकूल यह जीवन बनाया गया, तो देव-गति का बंध भी हो सकता है।

जिसके जीवन में भद्रता, मधुरता और सरलता के गुण समाये हुए हों, उसका प्रभाव क्रूर से क्रूर व्यक्ति पर भी पड़े बिना नहीं रहता। मैं यही संकेत करना चाहता हूँ कि भद्रता, मधुरता एवं सरलता के सद्गुणों को अपनाकर आप इहलोक और परलोक दोनों को सफल बनाने का अवश्य ही सत्प्रयास करें।



साधु-जीवन की सुदृढ़ता

आज श्री भूपेन्द्रमुनि की बड़ी दीक्षा का प्रसंग है। शास्त्रीय पाठों के उच्चारण के साथ जो यह कार्यक्रम सम्पन्न किया गया है, उसका अर्थ है— साधु धर्म की सुदृढ़ता। दीक्षा के प्रारंभिक काल में नवदीक्षित साधु— धर्म के विविध नियमोपनियमों से परिचित होता है, नवीन क्रियाओं का अभ्यास करता है, अतः संभव है कि इस प्रक्रिया में उससे कोई दोष भी लग जाये अथवा कि आवश्यक परिपक्वता न आये— इस दृष्टि से पहली दीक्षा के चार माह के बाद बड़ी दीक्षा दी जाने की परम्परा है।

जब भी तीर्थंकर महाप्रभु चार तीर्थ की स्थापना करते हैं, तो इन चार तीर्थों में साधु-साध्वियों को यथा परम्परा सामायिक चारित्र एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराने का प्रसंग आता है। चौबीस तीर्थंकरों में से पहले और अन्तिम को छोड़कर शेष बावीस तीर्थंकरों के काल में केवल सामायिक चारित्र ही दिया जाता था यानि एक ही दीक्षा की परम्परा थी—दीक्षा तिथि पहली दीक्षा से ही शुरू हो जाती थी। उस काल के साधु-साध्वियों को विवेकशील मानकर ही ऐसी परम्परा बनी। किन्तु पहले तीर्थंकर के काल में युगलिया धर्म छोड़कर

पहले पहल मनुष्य कर्म एवं धर्म भूमि पर उतरे, अतः उस समय साधु-साधियों में बौद्धिक क्षमता कम मानी गयी। तब उनके स्वभाव को ऋजु और जड़ कहा गया। इस कारण तब भी दो दीक्षाओं की पद्धति रही। वे कुछ अल्पबुद्धि होने के साथ सरल होते थे, अतः अंतरिम काल में साधु-धर्म को सुदृढ़ बना लेते थे। इसी प्रकार अन्तिम तीर्थंकर महावीर प्रभु के शासन में भी साधु-साधियों के स्वभाव को वक्र और जड़ माना गया यानि वे अल्पबुद्धि होने के साथ स्वभाव से भी कुछ टेढ़े होने लगे। अतः दो दीक्षाओं की पद्धति पुनः चल पड़ी।

दो दीक्षाओं का यह अभिप्राय होता है कि पहली दीक्षा के अवसर पर सामायिक चारित्र दिया जाता है और चार माह की अवधि में साधु-धर्म को सुदृढ़ बनाकर फिर बड़ी दीक्षा के रूप में छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराया जाता है। दीक्षा की अवधि इस बड़ी दीक्षा से गिनी जाती है, वे चार माह दीक्षाकाल में शामिल नहीं किये जाते हैं। इस समय में वक्रता एवं जड़ता का जो मामूली स्वभाव होता है, उसे हटा कर साधु-धर्म में समरसता उत्पन्न करली जाती है।

1 kq/keZdh 1 q<rk

पहली दीक्षा और बड़ी दीक्षा के बीच की अवधि को साधु-धर्म की सुदृढ़ता का काल कह सकते हैं। इस समय में चारित्रिक दृष्टि से अतिचार भी होता है, तो निरतिचार भी होता है। इसका अर्थ है कि नवदीक्षित से कई त्रुटियाँ हो जाती हैं। ये त्रुटियाँ परिवारवालों या सम्बन्धियों के यहाँ से भिक्षा लाने में अथवा अन्य क्रियाओं में नवीनता होने से हो सकती हैं, तो उन सबके परिमार्जन के लिए और एक सुव्यवस्थित अभ्यास बन जाने के बाद यह बड़ी दीक्षा पचखायी जाती है। कई बार प्राथमिक काल में प्रतिक्रमण अथवा अन्य दैनिक चर्याएँ भी स्मरण में नहीं होती हैं, तो वैसी स्थिति में चार माह की बजाये छः माह बाद भी बड़ी दीक्षा दी जाती है। जैसे जघन्य सात

दिन की भी बड़ी दीक्षा हो सकती है। यह समयावधि निश्चित—सी नहीं है। इसका निश्चय नवदीक्षित की अभ्यास—पुष्टता के आधार पर किया जाता है। एक तरह से इसे साधु—धर्म का प्रशिक्षण—काल कह सकते हैं।

बड़ी दीक्षा के अवसर पर छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराने का तात्पर्य है कि अब नवदीक्षित को पूरी सावधानी दिलायी जाती है कि वह पुष्ट अभ्यास के साथ साधु—चर्या का पूर्णतः पालन करे। नये वातावरण में आने की जो नवीनता थी, वह अब समरसता में ढल जानी चाहिए। इसके बाद साधारण रूप से त्रुटियाँ नहीं होनी चाहिए एवं सतर्कता व सावधानी प्रत्येक क्रिया तथा चर्या के अनुसरण में पूरे तौर पर बनी रहनी चाहिए। बड़ी दीक्षा का अर्थ है, साधु—धर्म की सुदृढ़ता के साथ उस सुदृढ़ता को बराबर बनाये रखने, निभाने और उसे अभिवृद्ध बनाने की चेतावनी। वस्तुतः बड़ी दीक्षा के बाद ही इस कारण उसकी दीक्षा का प्रारंभ माना जाता है कि अब तक जो साधु—धर्म निभाया, वह अभ्यासकाल—मात्र था।

vfgd W lae vlf ri dh f=iϕh

छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण कराते समय साधु को सावधानी दिलायी जाती है कि तुमने इस प्रकार अपने जीवन में उत्कृष्ट धर्म को ग्रहण किया है। यह उत्कृष्ट धर्म अहिंसा, संयम एवं तप की त्रिपुटी रूप माना गया है। इस उत्कृष्ट धर्म का जब उत्कृष्ट भावना एवं रीति से पालन किया जाता है, तो उसे मनुष्य क्या—देवता भी नमस्कार करते हैं। इस आचरण त्रिपुटी का साधु—जीवन के निर्माण में अत्यधिक महत्व है। विचार, वाणी और कार्य से प्रत्येक प्रकार की हिंसा को त्यागकर रक्षा रूप अहिंसा को ग्रहण करना अहिंसा है, तो इस श्रेष्ठ वृत्ति को सहज रूप से अपने सम्पूर्ण जीवन में संयमित बना लेने का नाम संयम है। संयम की उत्कृष्ट श्रेणी तप है, जिस के आराधन से सभी प्रकार के ताप मिटकर आत्मा एक परम शांति

एवं आनन्द का अनुभव करने लगती है। इस त्रिपुटी को आचरण में उतार लेने के बाद जो साधु-धर्म ढलता है, वह त्यागमय उत्कृष्टता का प्रखर प्रतीक होता है।

दूसरे शब्दों में इसे श्रुत धर्म एवं चारित्र धर्म की आराधना का क्षेत्र कह सकते हैं। इसमें भी सबसे पहले अहिंसा महाव्रत को धारण करना पड़ता है। बड़ी दीक्षा के पहले तक शारीरिक प्रकृति और क्रिया का जो क्रम था, वह गृहस्थ धर्म के तुल्य था, परन्तु अब साधु जीवन में प्रवेश करने के अवसर पर वह सारा क्रम परिवर्तित हो जाता है। यह एक प्रकार से व्यक्ति का पुनर्जन्म-नया होता है। अब नये जीवन के अंग-रूप नयी चर्याओं को अपनाना पड़ता है। जैसे माता के गर्भ में कोई जीव आता है, तो उसके शरीर पिंड में क्रमानुसार अंगोपांगों की रचना होती है। पहले अंग रूप में हाथ, पैर, नाक, कान आँखें आदि यथास्थान बनते हैं, तो फिर उनके उपांग बनते हैं। सभी अंगोपांगों की रचना यथा क्रम, यथासमय एवं यथास्थान हो, तो वह सुलक्षणी बालक समझा जाता है। यह तो उसका शारीरिक दृष्टि से जन्म हुआ, परन्तु इस शरीर के मोह को भी छोड़कर जो आत्मा के सुलक्षणी अंगों के निर्माण हेतु संसार से विरागी बनता है, तो इस समय उसका भी नया जन्म ही होता है कि वह साधु-धर्म के क्षेत्र में उतरा है, जहाँ उसे अहिंसा, संयम एवं तप के सबल अंगों से आत्मा के स्वरूप को समुज्ज्वल बनाना होता है।

I kṛt hou ds va vḥ mi la

अब शरीर पिंड के अंगों के स्थान पर साधु जीवन के अंगों और उपांगों को समझने की जरूरत है कि किन-किन सिद्धान्तों को किस रूप में देखता और पालन करना है। जैसे शरीर के मुख्य अंग-रूप पाँच इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही साधु जीवन के प्रमुख अंग रूप पाँच महाव्रत हैं। इनमें पहला अहिंसा महाव्रत है। बड़ी दीक्षा के समय साधु भगवान की साक्षी देकर इस महाव्रत को ग्रहण करता है और

संकल्प लेता है कि सर्वथा प्रकार से छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा वह न करेगा, न करायेगा और न करते हुए का अनुमोदन करेगा। यह संकल्प तीन करण और तीन योग से होता है, जो मन, वचन और काया के योग माने गये हैं। अहिंसा के रूप में साधु जीवन का पहला अंग निर्मित होता है।

दूसरे अंग के रूप में सत्य महाव्रत लिया जाता है। यदि पहले अंग को पुष्ट बनाये रखना है, तो मन, वाणी एवं कर्म में सभी रूपों में सत्य को स्थान देना होगा। इस समय प्रतिज्ञा ली जानी चाहिए कि वह क्रोध, मान, आवेश आदि की कौसी भी परिस्थिति हो- असत्य को न मन में, न वचन में और न आचरण में प्रयुक्त करेगा। असत्य का त्याग भी तीन करण और तीन योग से होता है।

तीसरे अंग की दृष्टि से शास्त्रकारों ने अचौर्य महाव्रत को बताया है। अहिंसा और सत्य की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार की चोरी की वृत्ति का अस्तित्व नहीं रहना चाहिए। साधु किसी की भी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना अंगीकार न करे। बड़ी वस्तु तो दूर रही, किन्तु छोटी से छोटी वस्तु भी- चाहे वह दांत कुचरने के लिए तिनका ही हो- स्वामी की बिना आज्ञा नहीं लेनी चाहिए। किसी वस्तु का कोई विशेष स्वामी नहीं हो, तो उसकी आज्ञा किसी भी नगर-निवासी से ली जा सकती है। वह अवसर भी नहीं हो, तो सीर में अथवा शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा से ली जा सकती है। बिना आज्ञा के तो किसी भी वस्तु को ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है।

चौथा महाव्रत है ब्रह्मचर्य व्रत। यावज्जीवन मिथुन-वृत्ति का त्याग करके ब्रह्मचर्य के धारण करने से अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य वृत्तियों का समुचित रक्षण ही नहीं, विकास भी होता है। यह भी महाव्रतों की श्रृंखला में एक मूल अंग है और इसका एक साधु को मन, वचन एवं काया द्वारा तीन करण तीन योग से पालन करना होता है।

अपरिग्रह के पाँचवें महाव्रत के अनुसार एक साधु को भाव एवं द्रव्य सभी प्रकार के परिग्रह का परित्याग करना होता है। चारों महाव्रतों का रक्षक यह पाँचवाँ महाव्रत होता है तथा इसको ग्रहण करने से ही साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है। परिग्रह के इस सर्वथा त्याग में संयम की रक्षा हेतु आवश्यक भंडोपकरणों की छूट होती है, किन्तु इन उपकरणों का भी अनावश्यक संग्रह नहीं किया जाना चाहिए। किसी भी प्रकार का धातु साधु अपने पास नहीं रखे— एक सुई भी उपयोगार्थ वह किसी गृहस्थ से लाये, तो उसे संध्यापूर्व वापिस लौटा दे। किसी भी प्रकार की मुद्रा भी साधु अपने पास न रखे और न अपने नाम से पत्राचार करे। सुई की तरह पेन (कलम) भी उपयोगार्थ ले, तो पुनः उसी दिन लौटा दे— अपनी नेश्राय में न रखे। यदि भूल आदि से रख लेता है, तो उसका प्रायश्चित्त करना होता है। स्याही भी 'स्परिट' मिली काम में ली जाये, जिसमें जीवों की उत्पत्ति संभव नहीं होती है। इसी प्रकार मूल अंगों से सम्बन्धित उपांग रूप नियमोपनियमों का भी साधु आचरण की दृष्टि से विशद वर्णन आता है।

vfgd k dh vuq j. k&i) fr

इस समय साधक यह प्रश्न कर सकता है कि इस विशाल एवं विराट रूपी अहिंसा का निर्वाह वह अपने जीवन में कैसे कर सकेगा ? पृथ्वी, जल आदि षड्काया में जीव हैं, फिर उनके बीच रहते हुए उन जीवों का रक्षण वह कैसे कर सकेगा ? शास्त्रकार कहते हैं— हे साधक! पृथ्वी का आठ अंगुल का ऊपरी हिस्सा सूर्यकिरणों के प्रभाव से तथा मनुष्यों की पद-चालन क्रिया से अचित्त हो जाता है। अतः तुम उस पर विवेक से चलो तथा पृथ्वी का खनन आदि न करो। जल भी अचित्त पीओ और यह अचित्त जल गृहस्थों के यहाँ बर्तन आदि धोने के कारण स्वाभाविक रूप से तैयार होता है। राख-मिट्टी आदि से वे बर्तन धुलने के कारण वह पानी प्रासुक हो जाता है। गृहस्थ उसे बाहर फेंकते हैं, किन्तु साधु उस अचित्त पानी

को ही ग्रहण करे। गृहस्थों को चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों— यह ध्यान दिलाने की जरूरत है कि वे पानी को फेंके नहीं, बल्कि विवेकपूर्वक रख लें, जिसे साधु ले जा सके। तैयार गर्म पानी भी अचित्त रूप में साधु ले सकते हैं।

शास्त्रकारों का अहिंसा धर्म के पूर्णतया पालन की दृष्टि से आगे संकेत है कि साधु अपना आहार भी स्वयं नहीं बनायें, बल्कि स्वयं के लिए गृहस्थ द्वारा बनाया हुआ भी ग्रहण नहीं करे। वह तो अतिथि की तरह द्वार-द्वार घूमे और निर्दोष भिक्षा लेवे तथा भिक्षा भी स्वल्प-मात्रा में, जिसका किसी तरह का कोई बोझा गृहस्थ को प्रतीत न हो। इसी कारण इसे गोचरी कहते हैं कि जैसे गाय थोड़ा-थोड़ा चरती है, उसी तरह साधु अपनी भिक्षा का क्रम रखे। भिक्षा लेने के पहले पूरी जाँच करके तथा बयालीस दोष टालकर वह भिक्षा लेवे। जहाँ चार आदमियों की रसोई बनती है, तो स्वाभाविक रूप से कुछ अधिक होती ही है, जिसे साधु ग्रहण करता है। इसका नाम मधुकरी वृत्ति भी है। भंवरा जैसे बिना कष्ट दिये फूल-फूल से सूक्ष्म रस ग्रहण करता है, वैसे ही साधु की भिक्षाचरी होती है। अहिंसा की अनुसरण पद्धति को स्वस्थ बनाये रखने के लिए साधु को ऐसी छोटी-छोटी बातों का भी पूरा ध्यान रखना होता है, तभी अहिंसा महाव्रत का सम्पूर्णतः पालन संभव बनता है।

eu dh flfkjrk ds mik

दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में बताया गया है कि पाँच महाव्रतों को अंगीकार करके साधु बन जाने के बाद भी मन में अनेकानेक कल्पनाएँ आ सकती हैं, इच्छाएँ उभर सकती हैं और लालसाएँ जाग सकती हैं, किन्तु निर्देश दिया गया है कि ऐसे समय में मन की चंचलता को रोको और उसे साधु-धर्म में स्थिर बनाओ, क्योंकि साधु-धर्म जो तुमने अंगीकार किया है, वह बलात् नहीं, स्वेच्छा से अंगीकार किया है। अतः स्वेच्छा से ही उसका पूर्ण

अनुपालन आवश्यक है। जिस इच्छा-शक्ति के बल से एक बार संसार के समस्त परिग्रह का त्याग करके महाव्रतों को ग्रहण किया है, तो फिर उन त्यागी हुई कल्पनाओं, इच्छाओं तथा लालसाओं को मन में स्थान देना और साधु-धर्म को विकृत बनाना कतई उचित नहीं है।

दीक्षा कभी भी भार रूप से ग्रहण नहीं की जाती है। वैराग्य भावना के उत्कट बनने पर सहज रूप में कोई गृहस्थ-धर्म छोड़कर सांसारिक सुखों को तिलांजलि देकर साधुजीवन अपनाता है- प्रिय और कान्त योग्य वस्तुओं को अपने अधीन होते हुए भी वह त्यागता है, तो इस सहजता को कहीं भी दुर्बल नहीं बनने देना चाहिए। जो ग्रहण किये हुए महाव्रतों का साधुवेश रखते हुए ईमानदारी से पालन नहीं करता, वह अपने साधुपने में तो दोष लगाता ही है, किन्तु भगवान की भी अवज्ञा करता है। प्राप्त का त्याग करने के बाद उनकी कौसी भी कामना करना- यह तो थूककर चाटने जैसा होता है।

इसलिए कहा गया है कि अपनी विचार दशा को स्वस्थ बनाये रखो और कभी किसी प्रकार मन में कुछ चंचलता आ भी जाये, तो उसे स्थिर करने के उपाय काम में लो। चंचल परिणामों की दशा में अपने प्रति कठोरता से काम लेना चाहिए। उस समय शरीर से श्रम किया जाये, गुरुजनों की सेवा का अवसर हो, तो सेवा-शुश्रूषा में दत्तचित्त बना जाये अथवा और कोई अवसर न हो, तो मन के उफान को शान्त करने के लिए सूर्य की आतापना ही ली जाये। ऐसा करने से चंचलता मिटेगी, विकार नष्ट होंगे और मन में शान्ति एवं स्थिरता का विस्तार होगा। यदि ऐसा भी न हो, तो साधु ग्रामानुग्राम का उग्र विहार करता रहे, जिससे कि आयी हुई चंचलता का सम्पर्क टूट जाये। फिर भी मन में ऊँचा-नीचापन आता रहे, तो वह ध्यान आदि की अन्य साधनाओं को अपनाये।

ppyrk lsl akkZdjrk jgA

साधु जब तक मन की चंचलता का शमन न हो जाये- उससे संघर्ष करता रहे। मन की चंचलता अकेली ही ऐसी गुणघातिका

होती है, जिसका यथासमय शमन नहीं किया जाये, तो वह साधु-जीवन के मूल अंगों को भी ठेस पहुँचा सकती है। कोई यह कहे कि साधु बनने के बाद मन चंचल बने ही क्यों ? यह वांछनीय है कि साधु अपने मन का निग्रह करे और उसके स्थिरीकरण से अपनी साधना को गहरी बनाये, किन्तु मन तो ऐसा चपल अश्व होता है कि अच्छे-अच्छे सवारों के हाथ से भी उसकी रास खिसक जाती है। गुफा में एकान्त और एकाग्र ध्यान करनेवाले रथनेमि के मन का क्या हुआ ? वर्षा से बचाव करने के लिए राजमती गुफा में घुसी— यह जानकर कि गुफा निर्जन होगी। अंधेरे कोने में ध्यानस्थ खड़े मुनि रथनेमि उस निर्वस्त्र सुन्दर देहयष्टि को देखकर अपने मन को अपने हाथ से खो बैठे। मन ऐसा चंचल बना कि वे अपने साधु-जीवन को भूल कर राजमती से प्रणय-याचना करने लगे। यह राजमती का नैतिक साहस था कि उसने उन्हें धिक्कारा, समझाया और पश्चात्ताप-युक्त बनाया। राजमती ने उन्हें वमन का रूपक दिया कि एक त्यागी, जो उसे छोड़ गया है, उस वमन को वे चाटना चाहते हैं। तब उनका मन स्थिर हुआ और उन्होंने अपने आपको कठोरतम साधना में तल्लीन बना दिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब मन की चंचलता अति अनियंत्रित हो जाये, तब साधु को अपने मन पर ज्ञान का ऐसा अंकुश लगाना चाहिए, जिससे कि मन वश में हो जाये। यदि मन साधु को उसकी साधना से विचलित कर दे, तब तो वह घटना साधु-जीवन के लिए लज्जाजनक बन जाती है। इसीलिए कहा है कि हे साधक! जब-जब तुम जिन-जिन स्त्रियों को देखते हो और उनके लिए मन को चंचल बनाते हो, तो तुम हडप्पा वनस्पति की तरह यत्र-तत्र गिरते जाओगे और महाव्रतों को नष्ट करते जाओगे।

fu; fer vé %fu'py eu

इस हेतु भगवान ने संकेत दिया है कि साधु जीवन में चलते हुए बावन अनाचारों को भी टालकर चलो। निर्दोष भिक्षा ग्रहण करो

तथा नियमित आहार लो, क्योंकि नियमित एवं सादे आहार से मन को निश्चल रखने में बड़ी सहायता मिलती है। भिक्षा में लिया जानेवाला आहार आधाकर्मी नहीं हो तथा साधु के निमित्त से बनाया हुआ नहीं हो। उद्देशक भोजन को छोड़ देना चाहिए। खरीदा हुआ भोजन भी साधु ग्रहण नहीं करे और एक ही स्थान से भी नित्य आहार न ले। सुखे-समाधे एक घर से एक दिन में भी एक वक्त ही भिक्षा लेनी चाहिए। सामने लाया हुआ आहार भी साधु नहीं ले तथा वर्षा व फुहारों तक में भिक्षा लेने को वह अपने स्थान से बाहर नहीं जाये। धर्मस्थान में दया करने के निमित्त से भी श्रावकों द्वारा लाया हुआ भोजन साधु ग्रहण नहीं करे। गृहस्थ के घर में भी जो आहार लिया जाये, उसके लिए भी साधु अपनी दृष्टि रखे कि कोई भी वस्तु सचित्त वस्तु से स्पर्श करती हुई नहीं दे दी जाये। दृष्टि से परे की लायी हुई वस्तु को साधु ग्रहण नहीं करे। न तो साधु रात्रि में कोई भी वस्तु खाये और न खाद्य पदार्थ रात में अपने यहाँ रखे।

भोजन के विषय में इतनी छोटी-छोटी बातों के सम्बन्ध में सतर्कता बरतने का अर्थ यह है कि साधु आहार के निमित्त किसी भी प्रकार की हिंसा का भागी नहीं बने, भोजन के स्वाद में नहीं पड़े तथा आहार नियमित एवं अल्प-मात्रा में इतना ही ग्रहण करे कि जो संयमी जीवन को चलाने के लिए आवश्यक हो। उसे खाने के लिए जीना नहीं, जीने के लिए खाना होता है। यदि निर्दोष, सादे एवं नियमित आहार का क्रम लेकर साधु चलता है, तो निश्चित मानिए कि उसके लिए अपने मन पर निग्रह रखना भी उतना कठिन नहीं रहेगा।

'kij' ij Hh fuel&ofUk

जैसे साधु को भोजन संयमी जीवन को चलाने के उद्देश्य-मात्र से लेना होता है, उसी प्रकार अपने शरीर के प्रति भी निर्मोहवृत्ति रखते हुए उसे संयमी जीवन के उपयोग-मात्र के लिए शरीर को रक्षित करना होता है। शरीर को अच्छा दिखाने की शृंगार-भावना

रंच—मात्र भी साधु के मन में नहीं आनी चाहिए। इसीलिए स्नान करने, कपड़ों को बेदाग रखने अथवा अन्य प्रकार से शरीर—शोभा को बढ़ाने की तरफ साधु की कोई रुचि नहीं होनी चाहिए। अशुचि किसी प्रकार शरीर के साथ न रहे— यह दूसरी बात है, किन्तु उसमें साज—सज्जा का भाव कतई नहीं होना चाहिए। साधु पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रती होता है— इस कारण उसे शारीरिक शोभा की दृष्टि से रहित होना चाहिए।

अपने आपको सुन्दर दिखाने की सामान्य—सी भावना को भी यदि साधु अपने जीवन में स्थान देने लगता है, तो समझिए कि वह अपनी आत्माभिमुखी चर्याओं से हटकर हर समय इसी चिन्ता में लगा रहेगा कि उसकी चमड़ी चमकती हुई रहे, कपड़े बेदाग और जमे हुए हों तथा अन्य श्रृंगार—प्रसाधनों का उपयोग करने की भी उसकी लालसा बनेगी। ऐसा होने पर फिर साधुत्व कहाँ रहेगा ? उसका अन्तर्मुखी स्वभाव तो समाप्त होने लगेगा और जब वह बहिर्मुखी बनने लगेगा, तो फिर उसका साधु—अवस्था में रहना ही कैसे उचित माना जायेगा ? एक बात यह जरूर देखने की है कि पसीने या अन्य कारणों से शरीर अथवा वस्त्रों की ऐसी दुरावस्था भी न हो कि जिससे गन्दगी के कारण जीवोत्पत्ति होने लगे तथा साधु को हिंसा का भागी बनना पड़े। मूल भावना यह है कि शरीर की रक्षा शरीर के लिए नहीं, संयमी जीवन की सफलता के लिए साधु को करनी होती है। शरीर की इस प्रकार की रक्षा में भी पहले साधु को जीवरक्षा का ध्यान करना चाहिए। चाहे वह वस्त्रों का प्रक्षालन करे या अन्य उपकरणों को रखे, उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा का प्रसंग नहीं बनना चाहिए। कपड़े धोने में भी केवल सोड़े का ही प्रयोग करे, साबुन का नहीं। वह इत्र सेंट का भी प्रयोग नहीं करे।

d"V I gu dk uke gh I k/k/ hou gS

शरीर पर मोह नहीं रखने का अर्थ है कि शारीरिक कष्ट

सहन करने की एक परिपक्व क्षमता साधुजीवन में बन जानी चाहिए। वह ऐसा शरीर-कष्ट होता है, जिससे आत्म-सुख पैदा होता है। केश का लुंचन करना, नंगे पैरों से विहार करना, सीमित वस्त्रों से सभी ऋतुओं में काम चलाना आदि सभी प्रकार से शारीरिक कष्टों की छाया में आत्मा की साधना की जाती है। इसी कारण यह कहा जाये, तो कतई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कष्टसहन का नाम ही साधु-जीवन है।

संयम की मर्यादाएँ और आचरण की सीमाएँ साधुजीवन पर इस तरह आच्छादित रहती हैं कि वहाँ शरीर के मोह का कोई स्थान नहीं रहता। गर्मी में शरीर पसीने-पसीने हो रहा हो, तब भी साधु को किसी भी प्रकार से पंखा नहीं झलना चाहिए— कागज या पुस्तिका आदि से भी पंखे के उपयोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि हाथ या कपड़े तक से साधु हवा कर ले, तो वह अनाचरण की स्थिति होती है। अपने मर्यादित उपकरणों के सिवाय साधु को किन्हीं पदार्थों का किसी भी प्रकार से संचय नहीं करना चाहिए। गृहस्थ के पात्र और वस्त्र का भी साधु उपयोग नहीं करे। भोजन की दृष्टि से साधु राजपिंड, चक्रवर्ती का भोजन अथवा कामोत्तेजक भोजन भी ग्रहण नहीं करे। शृंगार की दृष्टि से साधु मर्दन, उबटन, दन्त प्रक्षालन आदि भी नहीं करे। दर्पण-दर्शन भी साधु के लिए निषिद्ध है। साधु छत्र/छत्री का उपयोग नहीं करे। वर्षा या फुहारों में साधु भिक्षा के लिए नहीं जा सकता है, किन्तु शंका- निवारण के लिए तो जा सकता है। साधु को रोग हो जाये, तो जहाँ तक उसकी क्षमता हो, अपने आध्यात्मिक प्रयोग करे तथा बाह्य चिकित्सा नहीं कराये और चिकित्सा कराये, तो इस तरह कि संयम और मूल महाव्रतों में दोष नहीं लगे। नियमानुसार कोई दोष लगता है, तो उसके लिए साधु को प्रायश्चित्त करना होता है। जिनकल्पी मुनि तो किसी भी प्रकार की चिकित्सा कराते ही नहीं हैं, क्योंकि उनके शरीर का संगठन वज्र ऋषभनाराच संहनन का होता है। स्थविरकल्पी मुनि चिकित्सा कराते

हैं, किन्तु उसी अवस्था में कि गृहस्थ औषध-भैषज का निमंत्रण करे।

सार रूप तथ्य यह है कि साधु अपने शरीर का रक्षण संयम की रक्षा के निमित्त से करे—शरीर के सुख की दृष्टि से नहीं, क्योंकि संयम का साध्य आत्म-सुख होता है जिसकी सर्वश्रेष्ठता की प्राप्ति हेतु शरीर से भी मुक्त होना पड़ता है।

1 kq dk i; el dk Z; ruki wZl gls

साधु अपनी चर्या के प्रत्येक कार्य को यतनापूर्वक करे— यह आवश्यक है। शास्त्रकार गिनाते हैं कि साधु अग्नि का आरंभ-समारंभ नहीं करे तथा रात में रोशनी भी न करे या न कराये। साधु की नेश्रायवाले मकान में रोशनी नहीं की जाने का आचार है। जिस गृहस्थ के मकान की आज्ञा साधु ने ली है, उसके घर से वह आहार नहीं लाये। इसके पीछे भावना यही है कि साधु के निमित्त से किसी एक पर अधिक भार नहीं पड़े। साधु की आचार-संहिता इस प्रकार की है कि साधु के जीवन निर्वाह का बोझ कोई महसूस न करे, किन्तु वह सारे समाज को ज्ञान एवं जागृति बाँटे।

साधु को गृहस्थ से वैयावृत्य भी नहीं करानी चाहिए। साधु थक गया है या रोगी शरीर है तथा गृहस्थ साधु की सेवा-शुश्रूषा करना चाहे, तब भी साधु किसी प्रकार से सेवा नहीं कराये। यदि वह गृहस्थ के हाथों सेवा लेता है, तो उसे अनाचार लगता है। साधु की सहन-शक्ति भी मजबूत होनी चाहिए कि वह रोग, कष्ट या संकट के समय हाय-विलाप नहीं करे। रोग आदि के समय यदि चिकित्सा की व्यवस्था नहीं हो, तो साधु को मन पर नहीं लाना चाहिए, बल्कि यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिए कि इस प्रकार उसके कर्मों की निर्जरा हो रही है। वैसे साधुसमाज में वैयावृत्य एवं सेवा-शुश्रूषा की बड़ी स्वस्थ परम्परा चलती है और दीक्षावृद्धों की सेवा बड़ी तन्मयता से की जाती है, फिर भी साधु-जीवन में सहन-शक्ति एवं धीरज की भावना होनी चाहिए।

भगवान ने एक साधक को निर्देश दिया है कि वह यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खाये, यतनापूर्वक पीये, यतनापूर्वक उठे, यतनापूर्वक बैठे आदि यानि साधु का प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक होना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है, तो पाप कर्मों का बंध नहीं करता है।

*᳚<eauk karvks n; k** dk vln 'lʒfunʒk*

साधु के लिए वीतरागदेव का यह निर्देश आदर्श रूप है कि पहले ज्ञान और फिर क्रिया। इसका अर्थ है कि साधु का आचरण ज्ञानमय होना चाहिए तथा ज्ञान आचरणहीन नहीं रहना चाहिए। पहले ज्ञान सीखो और फिर तदनुकूल आचरण करो। ज्ञान और क्रिया का इस प्रकार से आराधन मोक्ष तक पहुँचानेवाला बनता है। इस प्रारंभ की स्थिति से मोक्ष की स्थिति तक का वर्णन दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों में आया है। इसका साधु को गंभीरतापूर्वक अध्ययन—मनन करना चाहिए तथा अपने प्रबुद्ध चिन्तन की सहायता से मोक्ष—मार्ग पर प्रगति करनी चाहिए। जो साधु अपनी चर्या को सुरक्षित एवं शुद्ध रखकर चलता है तथा अपने ज्ञान—ध्यान को चमकाता है, उसका आत्मकल्याण निश्चित माना जाना चाहिए।

Jlod l kqij n; k dja

अन्तिम बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपने महाव्रतों की रक्षा साधु तो करेगा ही, किन्तु श्रावक—श्राविकाओं को साधु—साध्वियों पर दया रखनी चाहिए। आप सोचते होंगे कि यह कैसी दया है ? इस दया का अर्थ यह है कि श्रावकवर्ग साधुवर्ग के संयम—रक्षा के प्रयासों में सर्व—सहयोग करे। यह नहीं कि मोहवश स्वयं संयमविरोधी आचरण कराये अथवा साधु के विपरीत आचरण को सहन करे। ऐसी शिथिलता और पक्षबन्दी श्रावकवर्ग की तरफ से होने पर ही साधु में अपने आचार के विपरीत चलने का दुस्साहस होता है। मैं ऐसे श्रावक वर्ग को निर्दयी मानता हूँ। श्रावकों को इस आशय से दयावान होना

चाहिए कि साधु अपने संयममार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलने में सहयोग पाये।

साधु जीवन की सुदृढ़ता एक पवित्र ध्येय है, क्योंकि साधु-जीवन योद्धा और वीर का जीवन होता है, जो विकारों एवं कर्मों के साथ युद्ध में विजय प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ता है।



व्रत और शील की अमित महत्ता

"Yù i Hqft u/ rø e> vkr: js-----"

जीवन में मंगलमय घड़ियाँ लाने के लिए परमात्मा को स्मरण करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि उनके स्वरूप को समक्ष रखकर हम जीवन की समस्याओं का समाधान भली प्रकार से निकाल सकते हैं। परमात्मा के बीच की दूरी को दूर करने का जब हम निश्चय करते हैं, तो उसके पूर्व जो छोटी-छोटी धाराएँ हैं, उनको तय करना चाहिए। जीवन में अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव आते हैं और परिणामों की ऊँची-नीची धाराओं में आत्मा अपनी प्रमुख धारा से विलग होती रहती है, तब इस विलगता में ही वे कारण निर्मित होते हैं, जिनके हेतु से विभिन्न प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है। इस कर्मबन्धन के फलस्वरूप ही आत्मा अपनी सही दिशा एवं सही गति से विलग हो जाती है।

कल्पना करें कि बिजली के अनेक बल्ब लगे हुए हैं और सब बल्बों में से प्रकाश की समान धाराएँ निकल रही हैं, किन्तु यदि उन बल्बों के बीच में पर्दे लगा दिये जायें, तो फिर उन बल्बों का प्रकाश परस्पर मिलता नहीं है। वैसे ही आत्मिक शक्तियों का स्वरूप व

प्रकाश सब आत्माओं का मौलिक दृष्टि से एक सा है परन्तु उनके बीच कर्म बन्धन के पर्दे लगे हुए हैं और उन पर्दों के कारण एक आत्मा अन्य आत्माओं के शुद्ध स्वरूप को देख नहीं पाती है। यह प्रक्रिया केवल मानव जाति में ही चालू नहीं होती है, परन्तु पशु जगत आदि अन्य सारी जीव जातियों में भी यह कर्म-सिद्धान्त का सिलसिला चालू है। वे जीव जातियाँ चाहे सूक्ष्म हों या निगोद ही हों-कर्म-बन्धन के आधार पर ही उनका गति-कर्म चलता है।

i qxy dh fØ; korh 'Wä

जिन आठ कर्मों के आवृत-स्वरूप का विश्लेषण चल रहा है, वे आठ कर्म प्रत्येक संसारी आत्मा को प्रत्येक समय में आबद्ध कर रहे हैं। जीवन में भोजन के बिना कुछ समय निकाला जा सकता है, जल और वायु के बिना भी कुछ समय निकल सकता है, किन्तु कर्म-बन्धन के बिना एक समय भी नहीं निकलता है-यह कर्म-बन्धन चाहे शुभ कर्मों का हो अथवा अशुभ कर्मों का। कार्मण वर्गणा के पुद्गलों की ऐसी क्रियावती शक्ति होती है कि कर्म बन्धन के बिना संसारी आत्मा एक बारीक समय में भी नहीं रहती है। वह आत्मा अपने शरीर से चाहे एक अंगुली के असंख्यातवें भाग में हो अथवा वृहदाकार रूप में- कर्मबन्धन की प्रक्रिया सब शरीरों में चल रही है। प्रक्रिया के घनत्व में अन्तर हो सकता है, किन्तु क्रम कहीं भी बंद नहीं होता है। कोई भी संसारी आत्मा न तो क्रियाशून्य होती है और न ही कर्मशून्य एवं जहाँ क्रिया है, वहाँ निश्चित रूप से कर्म-बन्ध रहा हुआ है।

ऐसी क्रियावती शक्ति आत्मा का स्वभाव माना गया है और पुद्गल में भी क्रियावती शक्ति होती है। परन्तु पुद्गल की क्रियावती शक्ति चैतन्य की क्रियावती शक्ति से तुलनीय नहीं होती है। चैतन्य की क्रियाशीलता विलक्षण होती है और स्वतंत्र कर्ता के रूप में संचालित होती है। इसके साथ ही प्रत्येक आत्मा अपने ज्ञानमय

स्वभाव से भी विचलित नहीं होती है। निगोद की जीव-जाति सूक्ष्मतरम होती है, किन्तु उसमें भी रहनेवाली आत्माएँ आन्तरिक ज्ञान दृष्टि से क्रियाओं द्वारा प्रचलित होती है। अतः उनके भी कर्म-बन्धन का सिलसिला चालू रहता है।

मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओं से भले ही इस कर्म-बन्धन के क्रम को नहीं देख पाये, परन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी ने इस अवस्था का अपने कैवल्यज्ञान से अवलोकन किया है तथा वे अवलोकन करते रहते हैं। अवलोकन करके उन्होंने इस प्रक्रिया के संबंध में जो कथन किया है, वह आज हमारे ज्ञान एवं हमारी श्रद्धा का विषय है। ज्ञानमय श्रद्धा के साथ हम उस सिद्धान्त का चिन्तन करें तथा उसे समझें—यह आवश्यक है।

deZcUku dh if0:k

आप सोचेंगे कि कर्मों का बन्ध किस प्रकार होता है ? स्थूल दृष्टि से इसे समझाने के लिए मैं एक रूपक बताता हूँ। समझें कि एक मैदान में एक बहुत बड़ा मिट्टी का घड़ा खुला रखा हुआ है, जिस पर गहरी चिकनाई पुती हुई है। उसके साथ ही छोटे-छोटे मिट्टी के अन्य बर्तन भी रखे हुए हैं और उन पर भी चिकास लग रहा है। इनके साथ ही पोस्त के दाने जैसे छोटे-छोटे पदार्थ भी पड़े हुए हैं, जिन पर भी तेल—जैसा कुछ चुपड़ा हुआ है। अब कल्पना करें कि हवा चली और उससे बारीक रजकण उड़ने लगे। ये रजकण हवा से सभी ओर उड़ने लगे और चिकनाई के कारण जैसे बड़े घड़े पर जमने लगे, तो उसी तरह छोटे बर्तनों व सूक्ष्म पदार्थों पर भी जमने लगे। इस प्रकार वे रजकण सभी को आवृत कर लेते हैं—छोटे बड़े पदार्थों का उसमें भेद नहीं रहता।

अब इससे आगे बढ़िए। वह निगोद की जीव-जाति तो बहुत ही सूक्ष्म होती है, आप अपनी दिनचर्या की स्थूल कल्पना से ही इस सम्बन्ध को समझिए। आत्मा की विचार-सरिणियों में भी शुभ और अशुभ

दोनों परिणतियाँ चल रही हैं। जब शुभ कर्म बन्ध होता है, तो आत्मा एकेन्द्रिय जाति में से निकलकर द्वीन्द्रिय में और इस तरह ऊपर के जाति वर्ग में पहुँचती है। ऊपर पंचेन्द्रिय तक भी पहुँच जाती है, मगर यदि ऊपर जाकर भी वह शुभ परिणतियों को विकसित बनाकर शुभ कार्य नहीं करे तथा अज्ञान में चलती रहे, तो पुनः पंचेन्द्रिय से निम्नतम स्थिति तक पतन भी हो सकता है। यह सब प्रक्रिया व्यवहार राशि में है। अब चिकनाई की स्थिति को भी समझ लीजिए। जितने चिकने कर्म होते हैं, उतनी ही आत्म-स्वरूप पर गहरी चिकनाई पुतती रहती है और चिकनाई जितनी गहरी होती है, वह कर्म रूप रजकणों को भी ज्यादा चिपकाती है। अतः आत्मा में जितने अंशों में निर्लेप-वृत्ति जागती है, तो उससे यह चिकनाई कम होती जाती है तथा आत्मा हलुकर्मी बनती जाती है।

fu' 'ky orh vRekva dh xfr

मैं आपको स्थूल रूप से समझा रहा हूँ कि इन अवस्थाओं में रहनेवाली आत्माएँ कौन-कौन से कर्मों का उपार्जन करती है? मुख्य रूप से आयुष्य कर्म के बन्ध के सम्बन्ध में चार गतियाँ मानी गयी हैं—नरक तिर्यच, मनुष्य एवं देवगति। ये संसारी आत्माओं की गतियाँ हैं, क्योंकि कर्ममुक्त बनने के बाद तो आत्मा सिद्धस्वरूप धारण करके मोक्षगामी बन जाती है। नरक, पशु एवं मनुष्य गतियों के आयुष्य बन्ध के क्या-क्या होते हैं—इन पर विचार किया गया है। इन तीन गतियों के आयुष्य बन्ध के अपने-अपने विशिष्ट कारणों के सिवाय सबका एक सामान्य कारण भी बताया गया है। जिन आत्माओं ने शीलव्रत ग्रहण नहीं किया है, वे आत्माएँ निश्शीलव्रती कहलाती हैं। शील का अर्थ है—तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा पाँच अणुव्रत। श्रावक धर्म को इस तरह शील माना है। शील को व्रत का पर्यायवाची मान लीजिए। जिसने कोई व्रत धारण नहीं किया, गुणस्थान की दृष्टि से उसका स्थान अव्रत गुणस्थान में होता है। आध्यात्मिक विचार से

अव्रती चौथे सम्यक् दृष्टि गुणस्थान तक भी आता है, क्योंकि सम्यक् दृष्टि का भी यही कारण लागू होता है कि वह शीलव्रत से रहित है। इसलिए वह भी अपनी गति के बन्ध में 'सर्वेषाम्' के साथ शामिल हो जाता है।

निश्शील-व्रती आत्माओं की गति में सामान्य तथ्य यह है कि वे नरक का आयुष्य भी बाँध सकती हैं। शास्त्रीय दृष्टि के विश्लेषण में बताया जाता है कि जो क्रियावादी है, वह यदि महारंभी और महा-परिग्रही है और शीलव्रती नहीं है, तो ऐसा क्रियावादी नरक का भी आयुष्य बाँधता है। वह उत्तरपथगामी नेरिया है—ऐसा दशाश्रुतस्कन्ध में वर्णन है और भगवती सूत्र में यह वर्णन आया है कि क्रियावादी वैमानिक का आयुष्य बाँधता है, तो वहाँ विशेष क्रियावादी से तात्पर्य लिया गया है। किन्तु जो क्रियावादी शील और व्रत से युक्त नहीं है, वे अवसरानुसार आयुष्य का बन्ध कर सकते हैं।

इसमें यह प्रश्न पैदा होता है कि वह सम्यक्-दृष्टि होते हुए भी नरक का आयुष्य कैसे बाँधता है ? इस विषय में जब शास्त्रीय दृष्टि का चिन्तन किया जायेगा, तो यह दृष्टिकोण प्रस्तुत होगा कि सम्यक्-दृष्टि के कई प्रकार माने गये हैं। जहाँ क्रियावादी सम्यक्-दृष्टि है, तो सम्यक्-दृष्टि होना तो उसकी एक अवस्था है, किन्तु क्रिया की न्यूनाधिकता से उस दृष्टि से उसकी कई प्रकार की अवस्थाएँ हो सकती हैं। उन कई प्रकार की अवस्थाओं के अनुसार ही उस आत्मा के भिन्न-भिन्न आयुष्य कर्म का बन्ध होता है।

1 E; d&nf"V vK ml dh vorh voLFk j

सम्यक्-दृष्टि बनने से पहले जिसने आयुष्य-कर्म का बंध कर लिया—जैसे कि राजा श्रेणिक, वह स्थिति तो दूसरी है, परन्तु सम्यक्-दृष्टि की अवस्था में जिन्होंने आयुष्य बाँधा है और और उनके लिए जो विशेषण दशाश्रुतस्कन्ध में आते हैं, तो उस स्थिति को विशेषणों के साथ विचार में लेना होगा। ये विशेषण हैं महारंभी,

महापरिग्रही, उत्तरपथगामी नेरिया आदि। यह मान लें कि सम्यक्-दृष्टि केवल देवगति का ही आयुष्य बाँधता है, तो वह क्रियावादी तो होता ही है और जब तक उसकी क्रिया के स्वरूप को न समझें, तब तक सिर्फ सम्यक्-दृष्टि की अवस्था से ही आयुष्य बंध की बात नहीं कही जा सकती है। अपनी-अपनी क्रिया की दृष्टि से सम्यक्-दृष्टि असंख्य प्रकार के हो सकते हैं और उन-उन अवस्थाओं के अनुसार ही उनको आयुष्य का कर्म बंध माना जायेगा।

एक सम्यक् दृष्टि महारंभ और महातृष्णा की क्रिया में चलता हुआ नरक का आयुष्य भी बाँध सकता है। इसलिए उसके महारंभी, महापरिग्रही का विशेषण लगता है। दूसरा विशेषण उत्तरपथगामी नेरिये का है। अपेक्षा दृष्टि से नेरिये भी अच्छे माने जाते हैं और वे यदि सम्यक्-दृष्टिपने में आयुष्य बाँधें, तब सामान्य रूप से तदनुसार आयुष्य-कर्म का बंध हो जाता है। यह सब शास्त्रीय वर्णन है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है कि—

'tu' 'khs ork'

जिसका अर्थ है कि जिसके नवकारसी जितना भी त्याग नहीं है, वह निश्शील-व्रती होता है। ऐसा निश्शील-व्रती या अव्रती सम्यक्-दृष्टि होते हुए भी अपनी क्रिया की अवस्थाओं के अनुसार चारों गतियों के आयुष्य का बंध कर सकता है।

noxfr dk vk q; & cak dS s |

शास्त्रकारों ने देवगति के आयुष्य बंध के कारण गिनाते हुए बताया है कि जिसने सराग संयम भी लिया है, वह भी देवगति में जा सकता है। सराग संयमी की स्थिति छटे गुणस्थानवर्ती होती है। सराग संयमी उसे कहते हैं, जिसने साधु-धर्म तो अंगीकार कर लिया, किन्तु जिसके मन में संज्वलन यानि हल्के क्रोध, मान, माया व लोभ के विकार बने हुए हैं। यह क्रम इन वृत्तियों की न्यूनाधिकता के अनुसार दसवें गुणस्थान तक चलता है। ऐसा सराग संयमी देवगति का

आयुष्य बाँधता है, किन्तु यह ध्यान में लेने की वस्तुस्थिति है कि उसके देवगति का बंध उसके राग के कारण नहीं, बल्कि उसके संयम के व्रत के कारण होता है। राग तो उसे उससे भी अधिक उच्चता मिले—उसमें बाधक बनता है। संयम के व्रत से उसे जो आत्मिक—शुद्धि प्राप्त होती है, उसका सुफल देवगति के रूप में मिलता है।

इसमें भी आयुष्य बंध की स्थिति आत्मा के मनोभावों पर आधारित रहती है। संज्वलन की चौकड़ी और आर्तध्यान का अवसर भी सराग—संयम में क्वचित् पाया जाता है और इसमें भी ऊँची—नीची भूमिकाएँ चलती रहती हैं, तो आयुष्य बंध उनके अनुसार होता है। नीचे की भूमिका का आयुष्य पंचम गुणस्थान से आरंभ होता है। यह पंचम गुणस्थान व्रत—ग्रहण का माना जाता है और व्रतों की प्रारंभिक अवस्था संयमासंयमी की हो सकती है यानि जिसके संयम भी है और असंयम भी है। इसे अल्प—व्रती कह सकते हैं। इसका अर्थ है कि गृहस्थ में रहते हुए भी जो अपनी शक्ति के अनुसार व्रत ले रहा है—चाहे वह व्रत नवकारसी का होकर छोटे से छोटा व्रत है, फिर भी वह व्रती ही कहलायेगा। उसे पूरे तौर पर अव्रती या असंयमी नहीं कह सकते हैं। व्रत लिया है, इसका मतलब है कि वह संयम के मोर्चे पर है और इस मोर्चे पर वह उठे और बढ़े, तो पहले की तीनों गतियों पर ताले लगाकर अपने लिए देवगति को वह सुरक्षित बना सकता है।

कोई चाहे श्रावक का एक व्रत ही ग्रहण कर ले कि वह पहले व्रत के अनुसार निराबाध निरपराध चलते—फिरते जीवों को नहीं मारेगा, तब भी वह देवगति का बंध कर सकता है। इस व्रत के सिवाय उसके गृहस्थी के सारे कार्य यथावत् चल रहे हैं, सामाजिक स्थिति में भी वह कार्य कर रहा है तथा राष्ट्रीय धरातल पर भी अपनी जिम्मेदारी को पूरी कर रहा है, फिर भी एक व्रत की पुष्टता से ही वह देवगति का आयुष्य बाँध लेता है। इसका भावनात्मक महत्व है। वह श्रावक के एक व्रत की ही आराधना की अवस्था में आया है,

जिसका अभिप्राय है कि उसकी सर्वत्र आराधक भावना व्याप्त हो रही है। विराधकता से छूटना भी एक बड़ी उपलब्धि मानी गयी है। श्रावकव्रत की महत्ता का मूल्यांकन इस स्थिति से करने की जरूरत है कि जहाँ एक व्यक्ति निष्ठापूर्वक—मात्र श्रावक का एक व्रत ग्रहण कर लेता है और उसके सिवाय सारे सांसारिक कार्यों में रत रहता है, तब भी वह देवगति में पहुँच सकता है।

or&yg. k dk vfer eglo

व्रत—ग्रहण के क्षेत्र में प्रवेश—मात्र कर लेने का अमित महत्त्व माना गया है और उसका कारण है कि व्रत ग्रहण के प्रारंभ से एक नयी निष्ठा जन्म लेती है और अव्ययक्त रूप से ही सही—वह निष्ठा संपूर्ण प्रवृत्तियों को नियंत्रित करती है। अतः व्रत ग्रहण के महत्त्व को समझना चाहिए एवं यथाशक्ति यथासुविधा कुछ न कुछ व्रत अवश्य ग्रहण करते रहना चाहिए।

परन्तु आज तो ऐसा लगता है कि श्रावकों के मन में बड़ी हीन भावना चल रही है। कुछ तो वे व्रत—ग्रहण के तथ्य को नहीं समझते और कुछ वे संसार के वायुमंडल में इस तरह बह जाते हैं कि अपनी मौलिक स्थिति को विस्मृत कर बैठते हैं और अपने भावी जीवन का सही निर्माण नहीं कर पाते हैं। छोटा—सा कोई व्रत—जिसके पालन में कोई कठिनाई नहीं आती—उसको ग्रहण करने में भी वे हिचकिचाते हैं। आजकल शायद दो व्रतों के ग्रहण करने में लोगों को ज्यादा हिचक हो सकती है। वे व्रत हैं—सत्य तथा अचौर्य व्रत। आधुनिक युग में जिस रीति से कार्य—कलाप चल रहे हैं, उनको देखते हुए इन व्रतों का पालन कठिन कहा जा सकता है। इस कठिनता के कारण सामाजिक विकृतियाँ एवं राजकीय कानून माने जा सकते हैं। राजकीय कानूनों की स्थिति भी ऐसी बतायी जाती है कि अगर नैतिक दृष्टि से कोई पूर्णतया सत्य का पालन करता हुआ चले, तो संभव है, वही दंड का अधिक भागी बने। ऐसा न भी हो, तब

भी यह तो अवश्य है कि वह नीति के अनुसार भी धनार्जन नहीं कर सकेगा। समय की गति ऐसी है कि सच्चा आदमी धनार्जन में अनैतिक आदमी से आगे नहीं जा सकता है।

युग की इस विपरीत धारा को बदलने के लिए भी व्रत-ग्रहण को महत्व दिया जाना चाहिए। यदि श्रावक अपने व्रतों पर अडिग रहे और उसका प्रभाव चारों ओर फैले, तो इस राष्ट्रीय एवं सामाजिक वातावरण को भी परिवर्तित किया जा सकता है। व्रत-ग्रहण की वृत्ति के प्रसार से सामान्य रूप से चारित्रिक क्षमता समाज व राष्ट्र में पैदा की जा सकती है एवं तब वैसी स्थिति में व्रतों का पालन कठिनाई-भरा नहीं रह जायेगा, बल्कि तब वह पालन प्रेरणादायक बन जायेगा।

कलक गवक ङ or खग. क दज

व्रतों के ग्रहण एवं पालन करने में आज के युग में जो सामाजिक या राजकीय बाधाएँ दिखायी देती हैं, उनको दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए, किन्तु हताश नहीं होना चाहिए। कानून की चक्करदार बाधाओं के विरुद्ध भी आवाज उठायी जानी चाहिए तथा अहिंसक रीति से ही अन्य विकृतियों से भी संघर्ष करना चाहिए।

यह सही है कि वर्तमान वातावरण में झूठ और चोरी की वृत्तियाँ इस प्रकार समा रही हैं कि सत्य एवं अचौर्य व्रतों का पालन दुष्कर-सा लगता है। कानून उल्टे-सीधे हैं, फिर प्रशासन में भ्रष्टाचार है, जिससे सत्य को लेकर व्यापार या व्यवसाय में चल पाना हकीकत में बड़ा कठिन हो जाता है। इसके साथ ही आर्थिक व्यवस्था भी कुछ इस तरह की जटिल बनती जा रही है कि जैसे चोरी के बिना गाड़ी कहीं पार होती ही नहीं है। चोरी के पाप के भागियों को दंड कौन दे ? क्योंकि स्वयं दंड देनेवाले भी संभवतः चोर कर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं। व्यवस्था क्रम इस तरह ढलता दिखायी देता है कि चोर तो बेफिक्री से घूमते हैं और उल्टे ईमानदारों को फंसाया जाता है। मत्स्य-न्याय चल रहा है कि बड़ा मच्छ अपने से छोटी मछलियों को

निगल जाता है। इस प्रकार की परिस्थितियों में व्रतों का पालन कठिन अवश्य होता है, फिर भी कठिनाइयों से घबराना नहीं चाहिए। आनेवाली बाधाओं पर विजय प्राप्त करके व्रत-ग्रहण की वृत्ति को पनपाना चाहिए।

फिर भी जिन व्रतों के विषय में विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता हो, उन व्रतों को ग्रहण करने की क्षमता न बने, तो ठीक, परन्तु अन्य व्रतों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो श्रावकों में होनी ही चाहिए। निष्ठापूर्वक एक व्रत का भी पालन करने पर देवगति का बन्ध हो जाता है, जिससे निम्न गतियों की यातनाओं का तो उसे सामना नहीं करना पड़ेगा। वैसी अवस्था में वह सराग संयमी तो कहलायेगा और यदि साधु-जीवन में है, तो निम्न गतियों में जाने की स्थिति नहीं रहेगी। ज्ञानीजन कहते हैं कि सराग-संयम ही आगे के जन्म का कारण बनता है। इस प्रकार अज्ञान-तप के कारण जो अकाम निर्जरा होती है, उससे देवयोनि मिल सकती है, वह वैमानिक नहीं, नीचे की देवयोनि-भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि में जाता है। गृहस्थ में भी जो माता-पिता के ऋण को समझकर उनकी तन, मन से सेवा करते हैं, वे भी देवगति का आयुष्य बाँध सकते हैं।

or vlt' khy gh ewk/kij

सम्यक्-दृष्टि और सम्यक्-ज्ञान के बाद सम्यक् आचरण का ही प्रमुख महत्व होता है। यदि दृष्टि और ज्ञान के साथ आचरण नहीं, तो वह ज्ञान सार्थक नहीं बनता है। यही कारण है कि उत्थानगामी जीवन में व्रत और शील को बड़ा महत्व दिया गया है तथा देवगति के आयुष्य बंध में तो इन्हें ही मूलाधार माना गया है। कल्पना करें कि एक बहिन दुर्योगवश कर्मों के उदय से विधवा हो जाती है, किन्तु उस विधवा-अवस्था में वह अपने मन पर बराबर अंकुश रखने की कोशिश करती रहती है। समझ लें कि मन वश में नहीं रहता है, फिर भी वह मन की उस चंचलता को वचन या कार्य

में परिणत नहीं करती है, तो उस शील के पालन के कारण भी वह देवगति का आयुष्य बाँध लेती है। मन से शील नहीं पाल सकी, केवल वचन और काया से ही पाला—फिर भी कर्म—बंध की यह स्थिति बनती है। अतः व्रत और शील का ग्रहण तथा पालन भावी—जीवन का निर्णायक होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि जब उस विधवा के मन में विकार चल रहा है, तब वह पुण्यकर्म का बंध कैसे करेगी ? शास्त्रकार ही इसका स्पष्टीकरण देते हैं कि किसी का वचन रुकता है, तो वह मन पर नियंत्रण की वजह से ही तो हुआ। मन पर नियंत्रण रखनेवाला वचन और वचन पर नियंत्रण रखनेवाला मन ही हुआ। मन इतना तो वश में रहा ही कि वह वचन और काया के नियंत्रण को नहीं तोड़ सका। वचन को रोकने—मात्र में जितनी देर मौन रखा, उतनी देर तो मन रुका है। काया पाप की ओर नहीं जा सकी, यह भी नियंत्रण मन का ही माना जायेगा। मन अगर सर्वथा अनियंत्रित होता है, तो फिर वचन और काया पर भी नियंत्रण संभव नहीं बनता है। जहाँ वचन और काया रुके हैं, तो मन भी उतनी देर तो रुका ही है। इस नियंत्रण का फल भी देवलोक की गति का बंध हो जाता है। यह विषय शास्त्र में भलीभाँति स्पष्ट है। मन का निग्रह बड़ा कठिन होता है और सामायिक व्रत धारण करने में भी यदि रुपये में से पाँच आने नियंत्रण से आगे ग्यारह आने और सोलह आने नियंत्रण बनता है, तो वह भी प्रशंसनीय ही है। मुख्य रूप से व्रत और शील की विशेषता को ध्यान में लेना चाहिए।

eu&fuxg Hh dj# or Hh dja

कभी भाई कहते हैं कि मन हमारे काबू में नहीं है, तो व्रत कैसे ग्रहण करें ? मन हमारा खाने को भाग रहा है, तो उपवास क्यों करें ? सोचिए कि आपने उपवास किया, जब प्रत्याख्यान लिया, तब भावना शुद्ध थी। बाद में चंचलता आयी, तब सोचा कि उपवास नहीं

पचक्खते, तो ठीक रहता। इसके साथ ही भावना आयी कि भोजन कर ही लिया जाये। अब पचक्ख लिया है—उसी की सीमा से, धर्मस्थान से, बाहर नहीं जा रहे हैं, तो उसका यह परिणाम तो हुआ ही कि प्रत्याख्यान की वजह से व्रत टूटा नहीं। अगर प्रत्याख्यान नहीं करते, तो बिगड़ी हुई भावना को कार्य रूप में परिणत कर देते। इससे आपका मन रुक गया कि उपवास में भोजन नहीं करेंगे। प्रत्याख्यान के अभाव में सर्वांश छोड़ आंशिक रूप से मन में चंचलता आती, तब भी उपवास भंग हो जाता। अतः उपवास का प्रत्याख्यान लिया और मन में चंचलता के संकल्प—विकल्प भी आये, तब भी व्रत का खंडन नहीं हुआ, तो रुपये में से बारह—तेरह आना लाभ तो मिल ही जायेगा।

वैसे ही एक व्यक्ति सामायिक करके बैठा है, तो वह शीलव्रत में है। परन्तु सामायिक जैसी भावना वह अपने जीवन के चौबीसों घंटों में रखता है, तो वह देवगति के आयुष्य का बंध करता है, नरक का कभी नहीं। परन्तु दूसरा सामायिक व्रत ग्रहण करके बैठा है—भले ही मन की उसकी गतिवधियाँ उतनी नियंत्रित अवस्था में नहीं हैं, फिर भी यदि बाहर से कोई बुलाने आया और समझ लें कि अच्छी कमाई का अवसर है और उसके मन में भारी हलचल भी हुई, फिर भी सामायिक ली हुई है और नहीं जा सकता है—उसी सीमा से वह अपने को नियंत्रित रखता है, तो व्रत के कारण उसका वचन और काया पर तो नियंत्रण रहा ही। स्व. पूज्य श्री गणेशीलाल जी म.सा. के पिताजी श्री साहिबलाल जी सा. के जीवन का जिक्र है कि एक बार वे पौषध व्रत में थे, तब उनकी पुत्री का देहान्त हो गया। स्वयं पूज्यश्री संसार अवस्था में छोटे थे, तब बहिन के शव के साथ श्मशान में गये, लेकिन श्री साहबलाल जी सा. अपने पौषध व्रत में अडिग रहे। उस व्रत को तोड़कर भी वे चले जाते, तो कोई उनको कुछ कहता क्या ? अतः व्रत आपको मन—निग्रह के साथ अन्य प्रवृत्तियों पर भी नियंत्रण का अवसर देता ही है।

अतः मन पर निग्रह करने का अभ्यास करें, किन्तु इस बहाने से कि मन में चंचलता है, इसलिए व्रत ही ग्रहण नहीं करें, तो यह उचित नहीं है। यदि मन में चंचलता है, तो व्रत अवश्य ग्रहण करें, ताकि मन की चंचलता अधिक घातक नहीं बन सकेगी। वचन और काया भी नियंत्रित रहे, तो उससे मन पर निग्रह रखने का भी अभ्यास बढ़ेगा ही। इस कारण मन पर नियंत्रण रखने की भावना के साथ-साथ व्रत ग्रहण करने की वृत्ति को भी चालू रखना चाहिए।

1ae dh fLEfr eanoxfr dk cak

चारों गतियों के आयुष्य में से देवगति का बंध तभी होता है, जब कोई पूर्ण रूप से संयमी हो। परन्तु समझिए कि कोई संयमासंयम की स्थिति में बाल-तप कर रहा है और अज्ञानतावश कष्ट उठा रहा है, तो इस प्रकार से कष्ट उठाने का अवसर एकेन्द्रिय जीवों के लिए भी आता है। जिनके एक शरीर है, उन पर भी प्रहार हो रहे हैं और उन प्रहारों को भी शुभ परिणामों से सहन करने का विचार हो सकता है। इसके लिए रूपक दिया है कि एक पत्थर, जो पहाड़ पर था, वर्षा के प्रहार से उसका छोटा हिस्सा टूटा और लुढ़कते-लुढ़कते नदी में गिर पड़ा तथा वहाँ भी लुढ़कते-लुढ़कते घिसता रहा, तो वह चिकना बन गया। बताइए, उसे वैसा स्वरूपवान किसने बनाया ? ठोकरें खाते-खाते भी शालिग्राम बन जाता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी विविध रूप से दुनिया की ठोकरों में आती रहती है और यदि इन कष्टों को भी वह समभापूर्वक सहन करती जाये, तब भी अकाम निर्जरा होती है और उस निर्जरा से भी आत्मा की उन्नति होती है। किन्तु इस अकाम निर्जरा-से देवगति नहीं मिलती है, जब तक परिणामों की धारा शुभ न हो।

इसके साथ यह ध्यान रखना है कि आत्मा के अध्यवसाय सदा एक से नहीं रहते हैं-उनमें उतार-चढ़ाव आता रहता है, ऊँचा-नीचा प्रवाह चलता है। श्वास-प्रश्वास के साथ नाक के एक

छेद से दूसरे छेद के खुलते रहने की जैसे शरीर में प्रक्रिया चलती है, वैसे ही आत्मा में परिणामों की ऐसी ही प्रक्रिया चलती है। यह प्रक्रिया एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय में और अव्यवहार राशि में भी चालू रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि मन में परिणामों की शुभाशुभ धाराएँ चलती रहती हैं। ये धाराएँ कभी सही दिशा में जाती हैं, तब शुभ होती हैं और विपरीत दिशा में जाती हैं, तब अशुभ होती हैं। शुभ परिणामों से पुण्य का बंध होता है, तो अशुभ परिणामों से पाप का बंध होता है। ऐसी अकाम निर्जरा के कष्ट-सहन के समय में भी जब शुभ परिणामों की धारा चल रही हो और उस समय आयुष्य कर्म का बंध हो जाये, तो देवगति का बंध हो सकता है, क्योंकि संयमासंयम की स्थिति में भी उस समय शुभ परिणामों के कारण संयम की मनःस्थिति आ जाती है। यह पंचेन्द्रिय जीव के लिए ही मन के अवस्थान के साथ हो सकता है।

de&fl) Nr Hh foKku gS

कर्म-सिद्धान्त भी एक प्रकार का विज्ञान है, जिसके जरिये धीरे-धीरे ही सही-आपको यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि आप क्या हैं, क्या बनना चाहते हैं, आप के भाव कैसे हैं, किस गति के लिए-कैसे भावपूर्ण कारण हैं और आपको अपनी पसन्द की गति के लिए क्या-क्या करना होगा ? शरीर विज्ञान की तरह ही आत्मा के इस विज्ञान को आपको समझना चाहिए। शरीर में कोशिकाएँ जो कार्य करती हैं, आत्मा में वही कार्य कर्म करता है। एक जीवन ही नहीं, संपूर्ण जीवन-क्रम का मर्म इस कर्म-सिद्धान्त में रहा हुआ है, जिसे समझने एवं तदनुसार कर्म के इन आवरणों को हटाने से ही आत्मा परमात्म-स्वरूप की ओर गति कर सकती है।

विचार को समझिए और उसे परिपक्व बनाइए। विचार बनता है, तो वाणी ढलती है और विचार व वाणी मिलकर मनुष्य के कार्य का परिष्कार करते हैं।

योगों की वक्रता और सरलता

*“Yne iHqft u/ rā eq vlr#ajs-----***

पद्म प्रभु की प्रार्थना के मंगलाचरण के साथ कर्म-विपाक पर विचार किया जा रहा है। जब यह सोचा जाये कि किन-किन कारणों से आत्मा का वास्तविक स्वरूप आच्छादित होता है-आत्मिक शक्ति निज-स्वरूप में रमण करना त्यागकर कैसे पर-स्वरूप के प्रति आकर्षित होती है तथा इस भ्रामक आकर्षण के कारण क्या परिणाम सामने आते हैं, तभी आत्म-स्वरूप की वर्तमान स्थिति के साथ परम शुद्ध परमात्म-स्वरूप का एक तुलनात्मक दृष्टिकोण सामने आता है और प्रार्थना का यही लक्ष्य है।

विभिन्न कर्मों के आत्मा के साथ बंध, उदय एवं फल की परिस्थितियाँ संसारी आत्मा के गतिचक्र को स्पष्ट करती हैं। ज्ञानावरणीय से लेकर आयुष्य कर्म तक के कारणों पर कुछ विश्लेषण किया गया है और उससे यह प्रकट हुआ है कि अपने भाग्य की निर्माता स्वयं आत्मा है। जैसे वह विचार और कार्य करती है, वैसे ही कर्मों का बंध होता है, किन्तु इसके साथ यह अटल प्रक्रिया है कि जैसा कर्म-बंध हुआ है, उसे भोगना ही पड़ेगा। इसमें कोई अपवाद नहीं है तथा

आत्मा से परमात्मा बनने का जो क्रम है, वह कर्मों के फल भोग एवं कर्मों के क्षय से ही संपूर्ण होता है। आयुष्य कर्म को ही लें, जिसकी आधीनता से आत्मा को आयु-पर्यन्त उस योनि में रहना ही पड़ता है। यदि मनुष्य-पर्याय का आयुष्य बाँधा है, तो जब तक आयु-कर्म शेष है, तब तक मनुष्य की पर्याय छूट नहीं सकती है।

आयुष्य दो प्रकार का बताया गया है—एक अनपवर्तनीय सोपक्रमी और दूसरा अपवर्तनीय सोपक्रमी। इसके साथ ही निरुपक्रमी सोपक्रमी भी होता है तथा निरुपक्रमी अनपवर्तनीय भी होता है। जहाँ अनपवर्तनीय कर्म का वर्णन है, तो उसके रहते हुए आत्मा का इस शरीर से छुटकारा नहीं होता है। इसमें किसी भी अवस्था में परिवर्तन नहीं आ सकता है।

vk q: es mi Øe dh fLFkr

आयुष्य के अनपवर्तनीय कर्म की अवस्था में कितना ही आघात लग जाये, उपसर्ग आ जाये, विकटतम परिस्थितियाँ पैदा हो जाये, आकाश में से जमीन पर पटक दिया जाये, तब भी शरीर के मोच आ सकती है, परन्तु आयुष्य के मोच नहीं आ सकती है। इसका अर्थ है कि बंधा हुआ आयुष्य घट नहीं सकता है। ऐसा शरीर चरम-शरीरी आत्माओं के होता है। चरम-शरीरी आत्मा का तात्पर्य है कि उसी भव में और उसी शरीर से वह आत्मा मुक्तिगामी बनेगी। उनका आयुष्य कभी जल्दी नहीं भोगा जा सकता है। जितने त्रिषष्ठीश्लाघ्य पुरुष हैं, उनका आयुष्य ऐसा ही होता है। ऐसा ही आयुष्य युगलियों का भी होता है। देव और नरक के आयुष्य में भी परिवर्तन नहीं हो सकता है।

परन्तु इनसे भिन्न आत्माओं के आयुष्य में उसको जल्दी भोगने की प्रक्रिया बन सकती है। सौ वर्ष के आयुष्य को अन्तुर्मुहूर्त में भोगा जा सकता है। वहाँ उपकरण लगने पर अपवर्तनीय आयुष्य भोगा जा सकता है। यह उपक्रम की स्थिति होती है। उपक्रम

अपवर्तनीय आयुष्य में लग सकता है और लम्बे आयुष्य को उपक्रम के बल से कम समय में भोग सकते हैं। उपक्रम का अर्थ है आठ प्रकार के भय, जिनमें दुर्घटना आदि का समावेश है। ऐसे आयुष्य में जब किसी उपक्रम का योग बैठ जाता है, तो आयुष्य लम्बा बंधा होने पर भी छोटा हो जाता है और यदि कोई उपक्रम नहीं गुजरे, तो जितना बाँधा है, उतना ही आयुष्य भोगना पड़ता है। परन्तु यह आयुष्य कर्म किन-किन को टिका करके रखता है—इसके लिए नाम-कर्म की स्थिति का अध्ययन आवश्यक है।

ule&deZD; k glrk gS |

नाम-कर्म के बन्धन से शरीर की विविध रचनाओं का निर्माण होता है एवं विभिन्न आकृतियों व रूप-रंगों के दृश्य दिखायी देते हैं। यह नाम-कर्म का उदय होता है। बंधा हुआ नाम-कर्म जब उदय में आता है यानि अपना फल देता है, तब किसी का रूप-व्यक्तित्व सुरूप और आकर्षक बनता है, तो किसी का कुरूप और अपरूप बनता है। एक की आकृति भरीपूरी और सुडौल दिखती है, तो दूसरे की दबी हुई और बेडौल। कोई पूर्णांग होता है, तो किसी के अंग-भंग की स्थिति होती है। ये सब रूपक जो दिखायी देते हैं, उनमें मुख्य कारणभूत नाम-कर्म की स्थिति का प्रसंग ही होता है।

अपने मूल-स्वरूप को भूलकर पर-पदार्थों की अधीनतावश जैसी-जैसी अपने परिणामों की धारा बनाती है, उनके अनुरूप अन्य कर्मों के समान ही नाम-कर्म का भी बन्धन होता है। नाम-कर्म के बन्धन से जो प्रवृत्ति बनती है, उसमें शुभ और अशुभ नाम-कर्म की गणना होती है। इस तरह नाम-कर्म के दो प्रकार हैं—शुभ नामकर्म और अशुभ नामकर्म। अशुभ नाम-कर्म से शरीर की आकृति और रचना में बेडौलपना आता है तथा उसका व्यक्तित्व आकर्षक और जनप्रिय नहीं बनता है।

अशुभ नाम-कर्म के कारणों का उल्लेख करते हुए ज्ञानीजन कहते हैं कि जीवन में दो बातें खास तौर पर दिखायी देती हैं और

वे हैं—योगों की विकृति तथा विषमवाद। योगों की विकृति का अर्थ है मन, वचन एवं काया की विभिन्न प्रवृत्तियों के संबंध में उठनेवाले परिणामों में विकारों का प्रवेश होना। योगों की वक्रता को विकृति कह सकते हैं। योग—कर्म से मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति का आशय लिया जाता है, परन्तु योग की वास्तविक परिभाषा यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो शक्ति प्रकट होती है, उसे योग कहते हैं। परन्तु इस शक्ति के प्रकट होने के तीन साधन हैं— मन, वचन तथा काया और इसी कारण इस शक्ति के तीन नाम रख दिये हैं। शक्ति की दृष्टि से तो एक योग है और उसके माध्यम की दृष्टि से यह शक्ति जब विचारणा में जागती है, तब उसे मनोयोग कहते हैं। जब वह वचन के माध्यम से प्रस्फुटित होती है, तब वह वचन—योग कहलाता है एवं शरीर के माध्यम से जब वह शक्ति कार्यरत बनती है, तब कायिक—योग कहलाता है।

; lx foNfr Is v'kk ule&deZ

इसी योग की शक्ति में जब विकृति आती है, तो आकृति एवं रूप—स्वरूप में विकार प्रकट होते हैं। किन्तु इस विकृति का तात्पर्य दो प्रकार से लिया जाता है। एक तो मुँह का टेढ़ापन—जो बाहर दिख रहा है, वह अशुभ नाम—कर्म के फलस्वरूप टेढ़ापन है, परन्तु यौगिक दृष्टि से वह वस्तुतः वचन का टेढ़ापन बता रहा है। एक तो वचन का टेढ़ापन बाहर देख रहे हैं, वह पूर्वजन्म के अशुभ नाम—कर्म का फल भोग रहा है। फिर भी वाचा से वह जो टेढ़ा बोलता है, उससे वह नवीन कर्म और बाँध लेता है। इससे अगले जन्म में उसकी मूकता भी साबित हो जाती है। कई लोग ऐसे दिखायी देते हैं कि वे बड़ी उम्र के हो जाने पर भी मुँह से बोल नहीं पाते और कानों से बहरे रह जाते हैं। डॉक्टरों के प्रयास के बावजूद भी उन्हें बोलने और सुनने की शक्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसी स्थिति में उनकी उस अशक्ति के दूसरे कारण ढूँढने होंगे।

कर्म-सिद्धान्त की प्रक्रिया समझ लेने के बाद यह निश्चय हो जाता है कि उसका दूसरा कारण अशुभ नाम-कर्म का बंध ही होता है। पिछले जन्म में आत्मा ने वचन योग का दुरुपयोग करके उसे जिस कदर टेढ़ा बनाया, उसी का टेढ़ापन इस जन्म में वाचिक अशक्ति के रूप में प्रकट हुआ। जिस वाचिक शक्ति का उपयोग शुभ कार्यों में किया जाना चाहिए था, उसका दुष्कर्म में जब प्रयोग होता है, तो उससे बन्धे कर्म का फल विकृति के रूप में अगले जन्म में दिखता है। जिसने अपनी वाणी का छल और कपट के साथ प्रयोग किया, उसका कर्म-बन्ध जब उदय में आ जाता है, तो वचन की ऐसी विकृति एवं अशक्ति पायी जाती है। इस कारण वास्तविकता यह है कि पूर्व जन्म के अशुभ नाम-कर्म के उदय से शरीर रचना में इस तरह की विकृतियाँ एवं अशक्तियाँ पैदा होती हैं, जिनका इस जन्म में फल भोगते हुए आत्मा भारी छटपटाहट महसूस करती है।

nlghj ofÜk dk nñi fj. We

अशुभ नाम-कर्म के बन्ध में दोहरी वृत्ति का कारण मुख्य रहता है कि ऊपर से शरीर से कुछ और दिखाना तथा आन्तरिक रूप से दूसरी ही प्रवृत्ति करना। ऐसी वृत्ति कायिक-योग में विकृति रूप बनकर शरीर-वक्रता के दुष्परिणाम के साथ प्रतिफलित होती है। मन की वक्रता बहुत जटिल होती है, जहाँ आदमी दुनिया को धोखा देने की कोशिश करता है और समझता है कि उस धोखे से वह अपने आपको अथवा अपने स्वार्थों को बचा ले। यह दोहरी वृत्ति की मन की वक्रता नाम-कर्म के माध्यम से शरीर-वक्रता के रूप में फूटती है। मन की वक्रता जिस रूप में जीवन की शुद्धता को आच्छादित करती है, उसके परिणामस्वरूप जो अशुभ नाम-कर्म का बन्ध होता है, वह आत्म-स्वरूप को और अधिक आच्छादित करता है। दोहरी वृत्ति के दुष्परिणाम भयावह होते हैं।

आत्मा पर जितना आच्छादन बढ़ता है, उतना ही वह स्वरूप—विस्मरण करती है। आत्म—विस्मृति के साथ ही मन अधिक चंचल और अनियंत्रित बनता है तथा छल—कपट की प्रवृत्तियों में अधिक भटकता है। इस मन की गति को जब तक गहराई से नहीं देखें और नहीं समझें, तब तक इसकी चंचलता की उड़ानों का अनुमान तक नहीं लगता। अच्छा सोचते—सोचते मन कभी दूसरों के लिए इतना बुरा सोचने लग जाता है कि जिसको इष्ट एवं प्रिय समझना था, उसके विषय में ही अशुभ चिन्तन करने लग जाता है। कहते हैं, अपने प्रिय के अनर्थ की आशंका पहले और जल्दी होती है। किसी का कोई निकट संबंधी बाहर गया हो और यथासमय नहीं लौटा हो, तो पहले उसका अशुभ ही विचार में आता है कि कहीं कुछ दुर्घटना न हो गयी हो और कहीं उसका कुछ अनर्थ न हो गया हो। यह मन के विकटपने की स्थिति अज्ञानवश चलती है। मन की इस विदशा के पीछे उसकी अव्यवस्थित गति होती है।

जीवन की इन समस्त क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का सूत्रधार होता है—मन और इस मन की वक्रता बहुत टेढ़ी होती है, किन्तु जब यही मन संयमित एवं सुनियंत्रित होकर जीवन में प्रगति का नया जागरण भर देता है, तो वाणी और कार्य को अभूतपूर्व मोड़ देकर मुक्ति तक भी पहुँचा देता है। इसी कारण कहा गया है — “मनः एव मनुष्याणां कारणं बंध— मोक्षयोः।” मन ही मनुष्यों को बाँधनेवाला तो मन ही उनको मुक्त करनेवाला कारण होता है। जब मन मनुष्य को बाँधता है, तो वक्र होकर बाँधता है। मन की वक्रता से अति अशुभ नाम—कर्म का बंध होता है, तो कषाय वृत्तियाँ भी गहरी बनती हैं। मृगालोढा जैसा शरीर मिलना—यह अति अशुभ नाम—कर्म का ही उदय होता है। पशु के तुल्य जीवन की यह अशुभ नाम—कर्म की स्थिति आ सकती है, क्योंकि इस योनि से वह पशु का आयुष्य बाँध लेता है। जो पशु की तरह अमार्यादित एवं अविवेकी जीवन जीता है तथा छल—बल से चलता है, तो वह मनुष्य पशु योनि का आयुष्य बंध

करके वास्तविक पशु-जीवन को प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा की बेभानी का नशा है। इन मन, वचन और काया की वक्रता के रूपक का मानव अनेक प्रकार से चिन्तन करे, तो वह इस दोहरी वृत्ति को छोड़ने की ओर आगे बढ़ सकता है।

viuseu dk ekinM l kpa

इस चिन्तन के धरातल पर आप अपने मन का मापदंड सोचें। यह विचार करें कि यदि आप अपने इस शरीर के विषय में शुभ कल्पना रखते हैं और चाहते हैं कि रूप-स्वरूप और आकृति आदि का आकर्षण आपको मिले, तो योगिक-दृष्टि से मन, वचन और काया की वक्रता को छोड़कर इनकी सभी प्रकार से सरलता को अंगीकार करें। वक्रता त्यागें-सरलता धारें, तो शुभ नाम-कर्म का बंध होता है, किन्तु कोई इस बात से बेभान होकर कि अगले जन्म में वह बहरा, गूंगा या पंगु बन जायेगा, योगों की वक्रता में फंसता रहे, तो ऐसे बेभान के लिए वह रास्ता भी खुला है।

आप कभी-कभी यह भी देखते हैं कि जिस पुरुष का शरीर राजकुमार की तरह सुन्दर था, किन्तु उसे कुष्ठ रोग हो गया, चेचक निकल आयी या लकवा मार गया तथा सारी सुन्दरता कुरूपता में बदल गयी तो यह अचानक पूर्वजन्म के कर्मों के उदय से हो जाता है। किन्तु हाय-हाय का ऐसा पश्चाताप फल के उदय में आने पर होता है-उससे क्या लाभ ? फल देखकर शिक्षा लेनी चाहिए कि अब जीवन के सारे कार्य-कलापों का रुख बदल दें।

विषमवाद और योगों की वक्रता के भावार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। मूल में वक्रता ही मुख्य है। यह योगों की वक्रता स्वयं अपने से उद्भूत होती है। मन, वचन और काया इसके उद्गम के माध्यम हैं। यदि आत्मा इन पर अपना नियंत्रण रखले, तो वक्रता के स्थान पर सरलता आ जायेगी, वरना वक्रता की कहावत तो आप जानते ही होंगे कि चोर को चोरी का कहे और गृहस्वामी को जगते

रहने का। यह दोगला स्वभाव विषमवाद को फैलानेवाला होता है। जितनी अधिक वक्रता होगी, उतना ही अधिक विषमवाद बढ़ेगा। यह स्थिति नाम-कर्म के अलावा अन्य कर्मों के बंध का भी कारण बनती है। इसलिए एक गहरी नजर अपने ही मन पर डालिए कि वह किस धरातल पर गति कर रहा है और उसे शुभ की ओर मोड़ देने के लिए क्या प्रयास किये जाने चाहिए।

oOrk fo "k QSykrh gS

जो ऊपर से सीधे दिखायी देते हैं तथा भीतर ही भीतर ऐसा मायावी व्यवहार करते हैं कि कोई अनजाना दंग रह जाये, ऐसे वक्र पुरुष, कहा जाना चाहिए कि स्वयं विष का प्रयोग करते हैं तथा विष फैलाते हैं।

इस विषय में एक ऐतिहासिक घटना का प्रसंग याद आ गया है। मेवाड़ के महाराणा के कृष्णाकुमारी नामकी एक राजकुमारी थी। जब वह तरुण हुई, तो जोधपुर और जयपुर के राजकुमारों को एक साथ उसे प्राप्त करने की इच्छा हुई। अब जोधपुर और जयपुर दोनों ने उदयपुर को चेतावनी दे दी कि अगर कृष्णाकुमारी का संबंध उससे नहीं किया, तो मेवाड़ की कुशल क्षेम नहीं। महाराणा पशोपेश में पड़े गये कि अब क्या करना ? दोनों ही राज्य शक्तिशाली थे और वे महाराणा भी कुछ भीरु थे, अतः चिन्ताग्रस्त हो गये। तब एक व्यक्ति ने सलाह दी कि यह सारा विग्रह कृष्णाकुमारी की वजह से है, इस कारण अगर विग्रह के कारण को ही नष्ट कर दें, तो विपदा टल जायेगी। भीरु मूर्ख भी होता है और महाराणा को यह सलाह पसन्द आ गयी। फिर उन्होंने कृष्णाकुमारी को खत्म करने की यह तरकीब सोची कि दूध में जहर मिला कर उसे पिला दें। जब कोई दूसरा इस काम के लिए तैयार नहीं हुआ, तो स्वयं महाराणा जहर मिले दूध का कटोरा लेकर अपनी पुत्री के पास पहुँचे। कृष्णाकुमारी के मन में किसी प्रकार की वक्रता नहीं थी, बल्कि पूर्ण सरलता थी। जो सरल

होता है, वह औरों में भी सरलता की ही कल्पना रखता है। किन्तु महाराणा के उस समय मन, वचन एवं काया के योग सरल नहीं थे, वक्र थे। उनकी बाह्य आकृति सरल दिख रही थी, वचनों में मधुरता और चाल में भी गंभीरता प्रतीत हो रही थी, मगर मन में वक्रता का विष भरा हुआ था। इस प्रकार की वक्रता विष रूप बनकर आत्मा की अगले जन्मों की शुभ गति एवं शुभ शरीर-रचना को विकृत बना डालती है।

वक्रता के ऐसे वेग में मनुष्य भान भूल जाता है कि यह वक्रता उसके लिए हितकर है अथवा अहितकर ? महाराणा तो दूध पिलाकर चले गये और कृष्णाकुमारी की तबियत बिगड़ने तथा मृत्यु हो जाने के समाचारों की प्रतीक्षा करने लगे। दिन-भर की प्रतीक्षा के बाद भी जब कोई समाचार नहीं मिला, तो पता लगवाने पर ज्ञात हुआ कि वह तो पूरी तरह स्वस्थ है। दूसरे दिन महाराणा ने फिर विष-मिश्रित दूध का कटोरा पिलाया तथा कृष्णाकुमारी ने उसे समभाव से पी लिया, तो फिर वह शरीर पर बेअसर रहा।

किन्तु प्रकारान्तर से जब राजकुमारी को ज्ञात हुआ कि पिता का प्रयोजन स्नेह नहीं, अपितु उसकी मृत्यु है, तो उसके मन में भी थोड़ी-सी वक्रता आ गयी। तीसरे दिन जब महाराणा फिर कटोरा लेकर आये, तो वक्रता उनके मन से निकल कर आकृति पर भी फैल रही थी, तो राजकुमारी भी अधिक वक्र बन गयी। उसने संकल्प किया कि जब पिता ही उसे मार देना चाहते हैं, तो ऐसे जीवन को नहीं रखना। तब उसने दूध को वक्रता के कारण जो विष समझकर पीया, तो उस का प्राणान्त हो गया। इसका सार यह है कि आत्मा की वक्रता किस प्रकार जहर पैदा कर देती है। कृष्णाकुमारी का मन वही था, वचन वही था, शरीर वही था तथा दूध भी विष-मिश्रित था, किन्तु दो दिन तो उस दूध का कोई असर राजकुमारी के शरीर पर नहीं हुआ, परन्तु वही दूध तीसरे दिन उसका मारक बन गया—इसका क्या कारण ? दो दिन तक तीनों योगों में वक्रता नहीं थी—एकरूपता और सरलता थी, इसलिए दूध उसने समभाव से पीया, जिसके

कारण वास्तविक विष भी दूध ही बना रहा। किन्तु तीसरे दिन सरलता खंडित हो गयी और वक्रता आ गयी, तो मनोभावों का विष वास्तविक विष से भी अधिक घातक बन गया।

vkrfjd Lo: i IsoOrk dks Ue>#

ऐसी वक्रता से जो विष फैलाता है, वह वर्तमान में तो शरीर का घातक बनता ही है, किन्तु उससे आत्मभावों में जो विष पैदा होता है, वह आगामी जन्मों को सन्तप्त करनेवाला बन जाता है। योगों की ऐसी वक्रता किस-किस को किन-किन रूपों में कैसे सताती है—इसका ज्ञान हर कोई कर सकता है। इसकी शर्त यही है कि वह अपने ही भीतर के स्वरूप को देखने की अच्छी तरह कोशिश करे और भीतर का स्वरूप यदि समझ में आ जाये और दिख जाये, तो उसकी वक्रता भी दिखायी दे जाती है तथा उसे दूर करने की इच्छा और शक्ति भी जागृत हो जाती है। इस कारण आन्तरिक स्वरूप से इस वक्रता को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।

अतः विचारणीय विषय यह है कि वर्तमान शरीर के व्यवस्थित स्वरूप को कैसे बनाया रखा जाये तथा आत्म-स्वरूप को पहिचानने की कला कैसे सीखी जाये ? इस पर कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से तथा नाम-कर्म बंध के संदर्भ में जितनी गंभीरता से विचार किया जायेगा, उतनी इस संबंध की सारी स्थिति स्पष्ट होती चली जायेगी।

प्रत्येक को रुचिपूर्वक अपने आन्तरिक स्वरूप को पहिचानने का प्रयास करना चाहिए। पक्ष को भली प्रकार जानने के लिए पहले प्रतिपक्ष का ज्ञान करना जरूरी है। नकली को पहले जान लो, तो असली की पहिचान जल्दी होगी। पहले कंकर को समझ लो, तो फिर रत्न को पहिचानने में गलती नहीं होगी। इस दृष्टि से आत्मा की दो दशाएँ होती हैं—पहली असली दशा स्वभाव की तो दूसरी नकली दशा विभाव की।

LoHko v'k' foHko n 'kk ;

स्वभाव का अर्थ अपना भाव तथा विभाव का अर्थ होता है—विपरीत भाव। यह विपरीत अपने भाव से होता है, अतः स्वभाव और विभाव की दशाएँ एक दूसरे से विपरीत होती हैं। मैं यहाँ इन दशाओं का उल्लेख इस कारण कर रहा हूँ कि मुनिवर्ग और श्रावकवर्ग दोनों यह समझ लें कि वक्रता को मन में धारण करने से—विभाव को स्वभाव में फंसाने से आत्मा के परिणामों की क्या स्थिति बनती है तथा जीवन में कितनी अशुद्धता समा जाती है ?

कल्पना करें कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर कीचड़ उछालने की तैयारी करता है। वह गटर में सड़ रहे कीचड़ को अपने हाथ से किसी बर्तन या बाल्टी में भरता है और दूसरे व्यक्ति पर छिड़कने के लिए आगे बढ़ता है। अब सोचें कि वह दूसरा व्यक्ति तो किसी तरह आगे बढ़ गया और पहला व्यक्ति उस पर कीचड़ उछाल नहीं पाया। तब दशा क्या बनी ? दूसरा व्यक्ति तो साफ रह गया, लेकिन स्वयं पहला व्यक्ति तो अपने हाथ आदि से उस गन्दगी से लिप्त हो ही गया। यह हानि किसकी हुई और किसके हाथों ? ऐसी ही विभावगत हानि मन की वक्रता करनेवाले की भी होती है। जिसका नुकसान करने के लिए अपने मन को टेढ़ा बनाते हो सो उस व्यक्ति का तो नुकसान हो या नहीं हो, किन्तु उस टेढ़ेपन से पहले स्वयं का नुकसान तो कर ही लेते हो। दो दिन तक महाराणा मन से वक्र थे, किन्तु कृष्णाकुमारी पूरी तरह सरल थी, तो कुछ नहीं बिगड़ा, लेकिन महाराणा तो अपने वक्र मन से अपनी आत्मिक हानि करते ही रहे। तीसरे दिन भी किसी कारण अगर कृष्णाकुमारी के मन में वक्रता नहीं आती और वह महाराणा की वक्रता का अपने सरलतापूर्ण समभाव से सामना करती रहती, तो शायद तब भी उस विषमय दूध का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। विषमता का विष ही सर्वाधिक घातक होता है। समता के भावों के साथ असंभव घटनाएँ भी संभव हो जाती हैं।

'Kä; k dks fo/ki wZl i dV dja

विभाव ने स्वभाव को दबा रखा है और इसी कारण स्वभावगत जितनी आत्मिक शक्तियाँ हैं, वे विभाव के नीचे दब गयी हैं। यह विभाव कर्मबन्ध भी करता है तथा कर्मों के उदय में आने पर फल भुगतते समय यदि फिर हाय-हाय चलती है और विभाव फैला हुआ रहता है, तो कर्मबन्ध का सिलसिला चलता रहता है तथा आत्मा को अपने स्वभाव की ओर गति करने में बाधाएँ बनी रहती हैं। यह मनुष्य-जीवन एक प्रकार से सृष्टि के जीवन का राजा होता है और अगर इस जीवन में भी विभाव नहीं जीत पाये तथा स्वभाव में रमण करने के शुद्ध आनन्द का रसास्वादन नहीं कर सके, तो सोचिए कि शुद्ध आनन्द का वह परम उल्लास फिर किस जीवन में प्राप्त कर सकेंगे ?

आत्मा का मूल स्वभाव सत्, चित् और आनन्द से परिपूर्ण होता है और उसे प्राप्त करनेवाला यह आनन्दमय मनुष्य का शरीर है। इसमें वक्रता का विष मिलाने की जो मूर्खता की जाती है, उस मूर्खता के लिए क्या शब्द कहें ? एकरूपता चाहते हैं, तो एकरूपता का व्यवहार एवं वातावरण रखिये, किन्तु जब वक्रता का व्यवहार करेंगे, तो उसका वक्रतापूर्ण फल भी स्वयं को भोगना ही पड़ेगा। यह कर्म-बंध और फल-भोग ही आत्मा की शक्तियों को दबा देता है, अतः जब तक उन शक्तियों को विधिपूर्वक प्रकट करने का यत्न नहीं किया जायेगा, तब तक स्वभाव की शुद्धता प्रसारित नहीं हो सकेगी। सोचें कि एक पुरुष का हाथ अचानक बड़ी शिला के नीचे दब जाये, तो क्या वह उसको झटके से निकाल सकेगा ? झटके से तो उल्टा हाथ ही टूट जायेगा—उसे हाथ की तरकीब से निकालना होगा। तरकीब का मतलब होगा कि वह सोचेगा कि इस बड़ी शिला को कैसे सरकायें, जिससे हाथ को और चोट नहीं लगे। शिला को सरकाने, हटाने और अपने हाथ को निकालने के लिए वह पत्थर के

वजन व सारी विधि का ज्ञान करता है, तभी सुरक्षापूर्वक वह अपने हाथ को बाहर निकाल सकता है।

इसी प्रकार दबी हुई आत्मिक शक्तियाँ भी विधिपूर्वक ही प्रकट की जा सकेंगी। यह समझिए कि अविधि से इस दिशा में प्रयत्न किया तो संभव है, अधिक हानि उठानी पड़ जाये।

deh dh f'lyk dk Kku t : jh

आत्मा स्वभाव से बेभान बनकर विभाव के घेरों में फंसती है और विभाव से वह कर्मों से आच्छादित बन जाती है। इस आच्छादन का ही अर्थ मानें कि आत्मा की शक्तियाँ कर्मों की बड़ी-बड़ी शिलाओं के नीचे दब जाती है। जैसे शिला के नीचे दबे हाथ को सुरक्षा से बाहर निकालने के लिए शिला की सारी जानकारी करनी पड़ती है, उसी तरह आत्मिक शक्तियों को भी दबाव से बाहर निकालने के लिए कर्मों की शिलाओं का ज्ञान जरूरी होता है। आत्मा ने अपने अज्ञान से कर्मों की बड़ी-बड़ी शिलाओं को अपने ऊपर डाल दी है और वह अपने आप में अशक्त बनी है। अब फंसी हुई शक्तियों को ज्ञान एवं विवेक की सहायता से ही बाहर निकाल सकते हैं।

ज्ञान की दृष्टि से कर्म-सिद्धान्त का अध्ययन इसी हेतु आवश्यक है। कर्म-सिद्धान्त की बारीकियों से ही ज्ञात हो सकेगा कि वे शक्तियाँ क्यों और कैसे दबी तथा अब उनको प्रकट करने के लिए किन-किन शिलाओं को किस-किस प्रकार हटाना होगा ? ज्ञान की सत्यता में भी खामी रह जाये, तो काम नहीं बनेगा तथा विवेक में खामी रह जाये, तो बनता हुआ काम भी बिगड़ सकता है। ज्ञान और विवेक के साथ विधिपूर्वक ही कर्मों की शिलाओं को हटाकर आत्मा की दबी हुई शक्तियों को प्रकट कर सकेंगे तथा आत्मा को अपने ही स्वभाव में अवस्थित बना सकेंगे।

तीर्थकर देव ने कर्म-शिला का विज्ञान सिद्धान्त की दृष्टि से प्रतिपादित किया है, जो बहुत ही गूढ़ और गंभीर है। छात्र बनकर

इसकी गूढ़ता में गहरे उतरना होगा तथा उस गूढ़ ज्ञान को व्यावहारिक दृष्टि से अपने जीवन में उतारना होगा। ऐसे ज्ञान और विवेकपूर्ण कार्य से ये कर्म-शिलाएँ खिसकने लगेंगी और नयी शिलाओं का आना भी रुक जायेगा। तब हाथ पूरी-पूरी सुरक्षा के साथ शिलाओं के दबाव से मुक्त हो जायेगा। शक्तियों के प्रकाशित होने के साथ आत्मा अपने स्वभाव में रमण करने लगेगी।

1 ko/kuh 1 s 1 nk 1 nxf

ज्ञान और विवेक के साथ जो अपनी आत्म-शक्तियों को प्रकट करने की इच्छा के साथ सावधानी रखता है, वह सदा सद्गति प्राप्त करता है। सावधानी नहीं रहने की अवस्था में आत्मा पतन की ओर जाती है तथा उससे उसकी दुर्गति होती है, तब पश्चात्ताप करना पड़ता है।

अपने स्वभाव एवं उसकी शुद्धता के संबंध में यदि कोई पूरी सावधानी बरतता हुआ चलता है—वक्रता छोड़ सरलता में रमता है, तो उसकी सदा सद्गति होती है।



कर्म बाधक और साधक भी

iù iHqft ul rç eq vkr# js-----*

पद्म प्रभु की प्रार्थना की पंक्तियाँ प्रवाह की दृष्टि से उच्चारण में चल रही हैं। जैसे इन पंक्तियों का प्रवाह बह रहा है, उसी प्रकार आत्मिक शक्तियों का प्रवाह भी निरन्तर चलता रहता है, परन्तु इन शक्तियों के प्रवाह में कभी कुछ दबाव आता है, तो कभी कुछ रुकावटें पैदा होती हैं, जिससे कि आत्मिक शक्तियाँ अमुक स्थल तक जाकर मंदगति हो जाती है अथवा अवरुद्ध हो जाती है। इन शक्तियों का ओज और तेज जैसे रुक जाता है। टॉर्च से यदि किसी दीवार पर कोई प्रकाश डाले, तो वह दीवार से अवरुद्ध हो जायेगा, आगे नहीं फैल सकेगा। दीवार के छोटे छिद्रों को पार करके प्रकाश दूसरी ओर नहीं जा सकेगा। दीवार में छिद्र अवश्य है, किन्तु वे छिद्र ऐसे नहीं हैं कि प्रकाश की किरणें आर-पार जा सकें। इसी रूपक से आत्मिक शक्तियों की स्थिति को समझें।

आत्मिक शक्तियों का अपूर्व प्रकाश चारों ओर प्रसारित हो जाना चाहता है, किन्तु बीच में कर्मों की दीवारें आ जाती हैं और वह प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है—सब ओर व्याप्त नहीं बन पाता है।

समझिए कि इन दीवारों से टकराकर आत्मिक शक्तियाँ निष्प्रभावी बनती रहती हैं। अन्दर ही अन्दर वे दबती जाती हैं और उनका मोड़ बाहर प्रकट नहीं हो पाता है। यदि इन कर्मों की दीवारें एक साथ तोड़ी न जा सकें, तो इनमें अपने शुभ प्रयत्नों से यथा-प्रयत्न छोटे-बड़े छेद तो किये ही जा सकते हैं और जब ऐसे प्रयत्न सफलतापूर्वक किये जाते हैं, तभी विकास के अवसर उपस्थित हो सकते हैं। पूरा प्रकाश सब ओर न फैले, मगर छिद्रों से गुजरकर न्यूनाधिक प्रकाश दूसरी ओर भी पहुँचेगा, जिससे घने अंधकार की स्थिति नहीं रहेगी। उस यत्किञ्चित् प्रकाश में सही मार्ग खोजा जा सकेगा और उसके साथ-साथ कर्मों की दीवारों को गिराते रहने का पुरुषार्थ भी बन सकेगा।

deh ds {k ki 'le dh voLFk

इस स्थिति को ही कर्मों के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम की अवस्थाओं के रूप में देख सकते हैं। जैसे दीवार में छिद्र नहीं होने पर प्रकाश की किरणें पुनः लौट आती हैं, उसी प्रकार कर्मों की दीवार भी जितनी मोटी और मजबूत होती है, उतना ही ज्ञान का प्रकाश वहाँ सार्थक नहीं बनता है। इस दीवार में छिद्रों के बनाने का काम कर्मों के क्षयोपशम से संभव होता है। जब कर्म पतले पड़ते हैं, तब उन छिद्रों में से ज्ञान का प्रकाश अन्तरात्मा में फैलता है और वह प्रकाश बाहर तक प्रकट होता है। साधना की पुष्टता के साथ ज्यों-ज्यों कर्मों के क्षयोपशम का घनत्व बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इस प्रकाश की शक्ति इतनी प्रखर और व्याप्त बन जाती है कि वह संपूर्ण लोक को अपनी दृष्टि से समाहित कर लेती है।

अभी आनन्द श्रावक का वर्णन आप सुन रहे थे। वे उस समय शारीरिक दृष्टि से इतने अशक्त थे कि अपने स्थान से उठकर गौतम स्वामी सरीखे महान त्यागी के स्वागत के लिए भी नहीं जा सके। गौतम स्वयं दर्शन देने आये और उन्होंने उनके लेटे-लेटे ही

दर्शन किये। शरीर उनका जर्जर हो रहा था, लेकिन उनकी आत्म-शक्ति प्रबल थी, कर्मों की दीवार में उन्होंने बड़े-बड़े छेद कर लिये थे। उनका ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम इतना बन गया था कि वे वहाँ लेटे हुए अपने चर्म-चक्षुओं से भी न सिर्फ घर के, बाहर के दृश्यों को ही देख रहे थे, वरन् जम्बुद्वीप, लवण-समुद्र आदि को लांघकर उनकी दृष्टि पाँचसौ योजन तक स्पष्टता से पहुँच रही थी। जम्बुद्वीप के रूप में वे जो सारी दुनिया देख पा रहे थे—यह कैसे बन पड़ा ? यह इन कर्म-रूपी दीवारों में क्षयोपशम रूप छिद्रों का ही परिणाम था।

if "Wiz lx dh vto"; drk

जैसे आनन्द जी श्रावक ने अपने पुरुषार्थ-बल से ज्ञानावरणीय कर्म की दीवार में छेद बनाकर दिव्यदृष्टि प्राप्त की, उसी प्रकार आज भी भव्य आत्मा अपने और पद्म प्रभु के बीच की दूरी को दूर करना चाहे, तो कर्मों की दीवार में छिद्र बनाकर अथवा उन्हें जर्जरित करके अपनी ज्ञान-ज्योति को दूरदर्शी बना सकती है। यह अशक्य नहीं है, किन्तु इसके लिए भरपूर निष्ठा एवं कठोर पुरुषार्थ की आवश्यकता अवश्य रहेगी। आज निष्ठा और पुरुषार्थ की कमी है, जिसकी वजह से कर्मों का उदय भी जोरदार होता है, तो नवीन कर्मों के बंध का सिलसिला भी चलता रहता है। कर्मों के आने के कारणों को समझकर जब तक उनके आगमन पर नियंत्रण लगाकर पुरुषार्थ प्रयोग से उनके क्षयोपशम का प्रयत्न नहीं किया जायेगा, तब तक आन्तरिक जीवन के विकास का अवसर भी उपस्थित नहीं हो सकेगा।

योगों की वक्रता एवं विसंवाद के कारण से शुभ नाम-कर्म के बंध के विषय में कुछ विचार किया गया है, जिसका सार यह है कि वह वक्रता अशुभ नाम-कर्म की उपार्जक है और इसको कम करते हुए यदि सरलता को धारण किया जायेगा, तो उसके स्थान पर शुभ

नाम कर्म का बंध होगा। नाम-कर्म के परिणाम आपके सामने दिखायी देते हैं कि आप सब ओर जो मानव आकृतियाँ देखते हैं, उनमें जो अन्तर है, वहीं नाम-कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ हैं—चाहे शुभ हों अथवा अशुभ। नाम-कर्म का जैसा बीज पहले इस आत्मा के साथ लगा था, वह समय आने पर उस रूप में अंकुरित होकर दृष्टिगत होता है।

पुरुषार्थ प्रयोग की इस दृष्टि से दोनों समय पर आवश्यकता रहती है। एक तो जब कर्म-बन्ध का अवसर हो और दूसरे, जब उनके उदय में आ जाने की स्थिति बन गयी हो। बन्ध के अवसर के समय यदि पुरुषार्थ जगे और मन पर निग्रह कर ले, तो उस समय उस बन्ध को टाला जा सकता है। कर्मों के उदय में आने पर भी फल-भोग के समय पुरुषार्थ का प्रयोग हो, तो मन को संयमित बनाकर नवीन कर्मों के सिलसिले को रोका जा सकता है। इन दोनों स्थितियों पर काबू पा जाने के बाद पुरुषार्थ को अवशिष्ट कर्मों के क्षयोपशम में लगाया जा सकता है, जिससे आत्मा कर्मों के भार से निरन्तर हल्की बनती जाये—ऊर्ध्वगामी होती जाये।

पुरुषार्थ आत्मा को पतन की खाई से उठाकर उत्थान के उच्चतम शिखर तक पहुँचाने की क्षमता रखता है, बशर्ते कि यह दृढ़तापूर्वक जारी रहे।

ule&deZdh iq; iÑfr , oa igkj 'Wä

स्वस्थ सुगठ शरीर के रूप में नीरोग रूप पाँचों इन्द्रियाँ, उनकी सत्ता, सम्पत्ति एवं शक्ति आदि आप जो देखते हैं, वे सब शुभ नाम कर्म के फलस्वरूप उपलब्ध होती है। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से जब इस पर चिन्तन किया जायेगा, तो ज्ञात होगा कि दो प्रकार के कर्म सामने आते हैं। कुछ कर्म तो गहरी दीवार लेकर आते हैं और कुछ कर्म स्वयं ही ऐसे हल्के होते हैं कि वे आत्म-शक्तियों के प्रकाश को अवरुद्ध नहीं बनाते हैं। भारी कर्मों को घनघाती कर्म कहते हैं।

ये कर्म हैं—ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म। ये आत्मा की शक्तियों को सीधा ही परावर्त कर देते हैं। किन्तु चार कर्म—आयुष्य, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म इनसे भिन्न होते हैं। ये कर्म आत्मिक शक्तियों पर सीधा प्रहार नहीं करते हैं। ये आत्मा को एक प्रकार से कारागृह में बन्द करते हैं, आत्म-शक्ति को अवरुद्ध नहीं कर सकते हैं। ये कर्म अपनी अवस्था के अनुसार आत्मा को शुभाशुभ फल देते हैं। शुभ फल की अवस्था में ये जीवन को आगे भी बढ़ाते हैं।

वीतराग देव ने जिन तीर्थों की स्थापना की, वह अवस्था तीर्थकर नाम कर्म की कहलाती है। तीर्थकर का नामकर्म एक पुण्य प्रकृति होती है। इस उत्कृष्ट प्रकृति के निर्माण में नाम कर्म बाधक नहीं बनकर साधक बनता है। साधक और बाधक बनाने की शक्ति परिणाम में है। परन्तु नाम कर्म के उदय में आने पर आत्मशक्ति में अवरुद्धता नहीं आती है, अपितु यदि वह शुभ हुआ, तो आत्मा की शक्ति को बढ़ा देता है। इसके परिणामस्वरूप ही केवली बनना तीर्थकर नाम कर्म के उदय से देख सकते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने पर मुक्ति की सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षायिक चारित्र और अनन्त वीर्य आदि की सारी शक्तियों का प्रकटीकरण नाम कर्म के उदय में आने पर ही होता है। इस तरह कर्म होते हुए भी बाधक न बनकर शुभ नाम कर्म आत्मोन्नति के लिए साधक बन जाता है।

vkr&'Wä; la dk fodk

आपका वर्तमान में जो शरीर है, वह भी नाम कर्म की उदयजन्य प्रकृति है और इस शरीर से आप चाहें, तो अपनी आत्म-शक्तियों को पूर्ण रूप तक विकसित कर सकते हैं। मानव शरीर की दृष्टि से यह नाम कर्म का जो उदय है, उसे आप आत्मोन्नति में साधक के रूप में सदुपयोग में ले सकते हैं। किन्तु

विकास के इस प्रयत्न के साथ ही नाम कर्म के ही उदय से आनेवाली मन, वचन एवं काया की योग-वक्रता को श्रद्धा एवं सरलता के भावों द्वारा नियंत्रण में रखना चाहिए। श्रद्धा और सरलता को बनाये रखने से अशुभ नाम-कर्म का बन्ध नहीं होगा।

श्रद्धा और सरलता में अपने स्वभाव को ढाल देने से अशुभ नाम-कर्म का उपार्जन नहीं हो सकेगा। सरलता क्या है ? मन, वचन एवं काया के योगों की प्रकृति स्वाभाविक रूप में संचालित की जाये अर्थात् किसी भी विचार, वचन अथवा कार्य में छिपाने की या प्रपंच करने की वृत्ति न रखी जाये तथा जो चीज जैसी लगे, उसे उसी रूप में प्रकट कर दी जाये। ऐसी मनोवृत्ति को सरलता कह सकते हैं। कभी मुँह से सहसा शब्द निकल जाये और किसी व्यक्ति की पकड़ में वह आ जाये और वह पूछे, तो निर्भयता से उसे कहा जा सके यानि कहीं भी किसी प्रकार का दुराव न हो—इसे सरलता कहते हैं। विचारों में सरलता होती है, तो वह वचन में भी निभती है तथा कार्य में भी बनी रह सकती है। जहाँ तीनों स्थितियों में सरलता आती है, तभी उसे सरल प्रकृति का व्यक्ति कह सकते हैं तथा वैसी सरलता में शुभ नाम-कर्म का बन्ध होता है, जिसके सहयोग से आत्मशक्तियों के विकास में सहायता मिलती है। शुभ कर्म बन्ध की अवस्था में आत्मा का सम्बन्ध पुण्यवानी के साथ जुड़ता है तथा पुण्यानुबंधी पुण्य योग की स्थिति में अगले जन्म में अनुकूल परिस्थितियों का संयोग मिलता है।

deZckkd vlg I kkd Hh

कर्म सर्वथा बाधक ही बनते हैं—ऐसा नियम नहीं है। पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म आत्मशक्तियों को विकसित करने में साधक भी बनते हैं। ये कर्म यदि तीव्रता की श्रेणी में पहुँच जायें, तो तीर्थकर नाम कर्म की प्रवृत्ति का भी उपार्जन करा सकते हैं। ऐसे साधक कर्मों का उपार्जन भी आत्मा के अधीन है और यदि वह उन कारणों की नियमपूर्वक पूर्ति

करे, तो ऊँची से ऊँची पुण्यवानी बाँध सकती है। इसका मूलाधार मन, वचन एवं काया के योग संचालन पर टिका हुआ होता है कि यदि सरलता रही, तो शुभ कर्म का बन्ध होगा और सरलता नहीं रख सके तथा वक्रता लाकर योगों को विषमवाद में डाल दिया, तो शुभ के स्थान पर अशुभ आ जायेगा।

कभी-कभी आत्मा चाहती है कि वह भी वैज्ञानिक की तरह विश्व का दर्शन करे। यह दर्शन उपलब्ध साधनों, मात्राओं, चित्रों आदि की सहायता से कर सकते हैं, किन्तु यह दर्शन तो बाह्य दर्शन-मात्र ही होगा। विश्व के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान आत्मिक शक्तियों द्वारा ही संभव बनता है। बाह्य परिस्थितियों का अध्ययन वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में किया जा सकता है, परन्तु विश्व की आन्तरिक स्थिति का अध्ययन वहाँ संभव नहीं है। प्रयोगशाला में बैठकर मनुष्य जो कुछ देख या जान सकता है, वह समुद्र में बूंद के समान भी नहीं है। समुद्र को देखना है, तो उसे जीवन की प्रयोगशाला में उतरना होगा, जहाँ वह तीन अध्यायों में पूर्णता प्राप्त करे। ये तीन अध्याय हैं-मन, वचन एवं काया की यौगिक क्रियाएँ। इन तीनों योगों के शुभ एवं अशुभ-सरल एवं वक्र दोनों पहलुओं का अध्ययन करना होगा। इन योगों की भी अपनी लिपि है। वह लिपि आपके अक्षरों में नहीं आ रही है, क्योंकि वह आत्मा की शक्ति के साथ जुड़ी हुई है। यदि योगों की उस लिपि का अध्ययन कर लें व प्रयोग में लायें, तो इसी जन्म में इतनी शक्ति संपादित की जा सकती है, जितनी आनन्द जी श्रावक को प्राप्त थी।

शुभ कर्म इस प्रकार साधक बनकर आत्मा को विकास की शक्ति प्रदान कर सकते हैं। परम अवधि ज्ञान की प्राप्ति को छोड़ दें, तब भी किसी सीमा तक मन, वचन एवं काया के शुद्ध अध्यवसायों से अवधि ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। इससे भी आगे प्रयास किया जये, तो तीर्थकर नाम-कर्म का उपाजन भी हो सकता है, जिस की श्रेष्ठ एवं पुण्य प्रकृति से चार तीर्थों की स्थापना का सुयोग

मिलता है। कर्म के साधक रूप का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, जिसकी उपलब्धि से आध्यात्मिक शक्ति का एक प्रवाह बहता है—धर्मशासन चलता है।

rtkeltj uke deZdk cUk

तत्त्वार्थ सूत्र में तीर्थकर नाम कर्म के बन्ध के कारणों एवं प्रकृति के भेदों का वर्णन आया है। ये बीस कारण बताये जा गये हैं, जिनमें पहला कारण बताया गया है—दर्शन शुद्धि। यह बंध का मूल है। यदि दर्शन शुद्धि होती है, तो सब बातें शुद्ध होती हुई चली जाती हैं। यहाँ दर्शन का तात्पर्य आँखों से देखने योग्य वस्तु से नहीं लेना है। तत्त्वार्थ सूत्र में ही दर्शन की व्याख्या की गयी है—

*“ rtkeltj) kua l E: d-n 'kze~ ***

तत्त्वों के अर्थ में श्रद्धा रखने का नाम सच्चा दर्शन कहा गया है। तत्त्वों का श्रद्धान है, वहीं दर्शन है अर्थात् वीतरागदेव के निर्देशानुसार सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर अटूट विश्वास किया जाये—वह दर्शन शुद्धि है। यह दर्शन शुद्धि साधारण स्तर पर भी रहती है तथा विशिष्टता के स्तरों पर भी पहुँचती है। इस दर्शन शुद्धि पर आवरण भी आ सकता है तथा उस आवरण को हटा भी सकते हैं।

दर्शन शुद्धि का मूल उपाय यह है कि मन, वचन एवं काया के योगों का सरलतापूर्वक प्रयोग किया जाये। जितनी यौगिक क्रियाओं में से वक्रता निकलती जायेगी, उतना ही शुद्धि का रूप निखरता जायेगा। अतः सरलता का समावेश करते हुए मनुष्य को अपनी अभिव्यक्ति स्वच्छ से स्वच्छतर बनाते रहने की चेष्टा करनी चाहिए। दर्शन शुद्धि को चिन्तामणि रत्न रूप माना है। यदि चिन्तामणि रत्न अशुचि में भी पड़ा मिले, तो क्या आप उसे लेने का प्रयास करेंगे या नहीं ? आप सोचेंगे कि अशुचि साफ कर लेंगे। किन्तु ऐसा भी कौन करेगा ? वही न, जिसे चिन्तामणि रत्न की पहचान हो। परन्तु जिसको उसकी पहचान और उसका ज्ञान नहीं हो, तो वह रत्न को

देखकर भी उसे ठोकर मार देगा। यह दशा अज्ञान का परिणाम होती है। जब भौतिक चिन्तामणि रत्न की वह स्थिति है, तो दर्शन-शुद्धि रूपी आध्यात्मिक चिन्तामणि रत्न की कितनी गहरी पहिचान होनी चाहिए तथा उसको प्राप्त करने की जिज्ञासा भी कितनी अटूट होनी चाहिए ? तत्त्वार्थ श्रद्धान और उससे प्राप्त दर्शन शुद्धि तो चैतन्य चिन्तामणि है, जड़ रूप चिन्तामणि रत्न से कई गुना श्रेष्ठ और यदि इससे विकास का पहला सोपान प्रकाशपूर्ण बन जाता है, तो वह संपूर्ण सोपानों को भी प्रकाशित बना देता है, जिससे विकास की गति निर्बाध बन जाती है।

n'kzi 'kfi dh egũk

इस प्रकार दर्शन शुद्धि आत्मा के मूलस्वरूप को प्रकाशित कर सकने का आधारगत कारण बनती है। दर्शन शुद्धि का चिन्तामणि रत्न आपके पास भी है, परन्तु हो सकता है कि वह अशुचि से लिपटा हुआ हो, तो उसे सम्यक् प्रकार से प्रक्षालित कर लेने की आवश्यकता है। यह अशुचि है— पर-पदार्थों के प्रति ममता और मन, वचन, माया के योगों में वक्रता, जिसे धो लेने के बाद इस चिन्तामणि रत्न का प्रकाश अपनी पूर्ण शुद्धता के साथ जीवन के सभी खंडों में प्रसारित हो जायेगा।

सबसे पहले इस दिशा में जो कार्य करने का है, वह यह है कि वीतराग के प्ररुपित तत्वों के मर्म को भली प्रकार समझें तथा निस्संशय होकर उन पर श्रद्धा करें। यह सम्यक् श्रद्धा ही दर्शन शुद्धि है। परन्तु श्रद्धा का प्रश्न आने पर कोई यह कहे कि कहाँ है वीतराग देव ? इनका सर्वज्ञ होना क्या संभव है ? परन्तु श्रद्धाहीनता की स्थिति में न तो ज्ञान टिकता है और न ही वह सम्यक् बनता है। आचरण का चरण भी श्रद्धा के अभाव में नहीं उठता है। इसी कारण श्रद्धा को प्रमुख स्थान दिया गया है—दर्शन का महत्व बताया गया है, किन्तु यह महत्व कोरे दर्शन को नहीं मिलता है—शुद्ध दर्शन को मिलता है, अतः दर्शन शुद्धि की ही महत्ता मानी जाती है।

दर्शन शुद्धि से एक आत्मविश्वास जागता है और वह इतना अटल होता है कि आचरण में कहीं भी दुर्बलता उत्पन्न नहीं होती है। यह दर्शन-शुद्धि आत्मविकास की पहली मंजिल को ही मोहनीय कर्म की अशुद्धता से स्वच्छ बना देती है, जिससे विशुद्ध यौगिक-क्रियाओं की उत्कृष्टता के साथ तीर्थकर नाम कर्म की प्रकृति तक बंध सकती है। किन्तु ऐसे बंध के लिए तल्लीनता की उच्चतम श्रेणियों में आत्मा के परिणामों को पहुँचना पड़ता है।

fpurkef.k jRu dh ifgplu

दर्शन शुद्धि रूपी चिन्तामणि रत्न उसे ही प्राप्त हो सकेगा, जो सम्यक्त्व पर संपूर्ण श्रद्धा रचाता हुआ उसके आठ आचारों का भलीभाँति पालन करता है तथा शंकाशील नहीं बनता हुआ उस पर दृढ़तापूर्वक चलता है। चिन्तामणि रत्न की पहिचान के सम्बन्ध में इस रूपक को समझिए। एक पुरुष चिन्तामणि रत्न के स्वरूप को अच्छी तरह पहिचाननेवाला है, दूसरा पुरुष उसे ठीक कांच के टुकड़े की तरह समझनेवाला है, तो तीसरा पुरुष उस कांच के टुकड़े को स्वच्छ देखता है, परन्तु उसकी अपेक्षा अशुचि से भरे हुए चिन्तामणि का अधिक विश्वास नहीं करता है। उस चिन्तामणि से दर्पण सरीखी स्वच्छता और रोशनी नहीं फूटती है, अतः वह चिन्तामणि के प्रति उदासीन भाव दिखाता है। वह चिन्तामणि का कुछ मूल्य तो अंकित कर रहा है, किन्तु उसे दर्पण सरीखा देखना चाहता है। पहिले को विश्वास है, दूसरे को आकांक्षा है। तीसरे को उदासी है। इसको दर्शन शुद्धि का प्रसंग नहीं आयेगा और आकांक्षा वृत्ति आ जायेगी। इससे उसका दर्शन अशुद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। उसका मूल्यांकन वही कर सकता है, जो उसके स्वरूप को पहिचानता है तथा यह भी जानता है कि इसका प्रकाश तभी प्रकट होगा, जब इसके साथ आत्मा की वास्तविक शक्ति संयुक्त बनेगी। वही निःशंकित बनकर विश्वास कर सकता है। उसके दर्शन शुद्धि का अवसर रहता है।

किन्तु आज का मानव तो न तो चिन्तामणि की पहिचान करना जानता है, न उस पर विश्वास करता है, बल्कि वह तो मिथ्या आकर्षणों से प्रभावित होता है। वह सोचता है कि इस धर्म में त्याग और भाव-शुद्धि की बात बतायी जाती है—यहाँ तो गायन, भजन, संगीत वगैरह कुछ भी आकर्षक बातें नहीं हैं। ऐसा मनुष्य तीसरे दर्जे का है, जो चिन्तामणि से उदासीन है। दर्पणवत् कांच के टुकड़े को पकड़ करके वह बैठा हुआ है। वह दर्शन शुद्धि की स्थिति तक नहीं पहुँच सकती है।

चिन्तामणि रत्न जिसको मिल जाता है, तो उसे उसकी इच्छित वस्तु प्राप्त हो सकती है। उसी प्रकार दर्शन-शुद्धि जिसकी हो जाती है, उसको साधना का इच्छित फल मिल सकता है। दर्शन शुद्धि का रहस्य अति गहन है। इस आध्यात्मिक दृष्टि को सुदृढ़ बना लें, तो श्रेष्ठ जीवन का निर्माण सरल बन सकता है। दर्शन को मलिन बनानेवाले कौन से कारण हैं—उन्हें जानकर दूर करने का यत्न करना चाहिए, जिससे शुभ नामकर्म का भी बन्ध हो तथा निर्जरा का द्वार भी खुले।

n'kī 'kī cukus dk vH kl dja

दर्शन शुद्धि यकायक सरलता से प्राप्त नहीं होगी। उसे शुद्ध बनाने का निरन्तर अभ्यास करें। आप धर्मस्थान पर आते हैं तथा आपकी रुचि पूरी होती है या नहीं, किन्तु मैं सूक्ष्म तत्वों की जानकारी आपको देना चाहता हूँ, तो इनका अध्ययन इस प्रकार करें जैसे कि आप छात्र बनकर शाला में आ रहे हों। अध्ययन निष्ठा से करें और यह भी देखें कि कल इस अध्ययन का क्या परिणाम सामने आता है। परिणाम इस ज्ञान रूप में आयेगा कि क्या त्याज्य है और क्या ग्राह्य है? अध्ययन, अभ्यास, चिन्तन, मनन, पृच्छा और शंका समाधान का क्रम आप नियमित बना सकें, तो अपने दर्शन को विशुद्ध बना सकने में काफी सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

1 kkd delk dh 1 gk rk

विकास के विभिन्न स्तरों पर ऐसे साधक-कर्मों की सहायता ली जा सकती है, जिनके माध्यम से अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं और आत्मोन्नति की धारणा बनती है—ज्ञान होता है तथा शुद्ध दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसे शुभ पुण्यानुबंधी कर्मों के बन्ध के कारणों पर अमल किया जाये और जीवन के प्रत्येक विचार और व्यवहार में सतर्कता बरती जाये, तो साधक कर्मों की सहायता प्राप्त हो सकती है। ये साधक कर्म उस नाव की तरह होते हैं, जिसे भले ही नदी के उस पार पहुँचने पर छोड़ना पड़ता है, किन्तु उस पार पहुँचना तो नाव से ही संभव होता है।



आत्म-शुद्धि की जड़-दर्शन शुद्धि

"Yù i hqft u/ rç eq vla# js-----"

पद्म प्रभु के चरणों में प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण किया गया है। प्रार्थना की मूल अवस्था आत्मिक शक्ति होती है और यही आत्मिक शक्ति इस प्रार्थना के माध्यम से बाहर अभिव्यक्त होती है। जब अन्तश्चेतना में प्रबल जिज्ञासा-वृत्ति जागृत होती है, तब चेतना अन्दर छटपटाती है, बन्धनों को महसूस करती है और उनसे मुक्ति पाने का संकल्प लेती है। वह विचार करती है कि अब मुझे इन बन्धनों में नहीं रहना है—इन दुःखों और द्वन्द्वों के झंझावातों से ऊपर उठना है एवं संसार की विषम स्थिति के दलदल से उबरना है। तब वह चेतना अपने विकास के उच्चतम लक्ष्य तक समुन्नत बनने का निश्चय करती है और उसे वह चरम लक्ष्य समता के रूप दिखायी देता है।

कौनसा है वह समता का चरम लक्ष्य ? जब चेतनशील आत्मा का चिन्तन स्पष्ट एवं एकाग्र होकर इस दिशा की ओर मुड़ता है, तब परमात्मा का पूर्ण सम-स्वरूप ही दृष्टि के सम्मुख चित्रित हो उठता है। इस चित्र के सम्मुख ही आत्मा का लक्ष्य स्पष्टतर हो जाता है कि

उसे भी परमात्मा के तुल्य ही बनना है। तुल्य बनने के लिए जब बीच में आ रहे झंझावातों को हटाने की अन्तश्चेतना में भावना प्रबल बनती है, तब वह प्रार्थना के माध्यम से परमात्मा को पुकार लेता है।

प्रार्थना की पृष्ठभूमि में जिस भावनात्मक पहलू का जागना आवश्यक है, वह मैंने स्पष्ट किया है और जब तक ऐसी आत्म-शोधक भावना भीतर से जागृत नहीं हो, तब तक प्रार्थना अपने सच्चे स्वरूप में प्रतिबन्धित नहीं होती है। परमात्मा की प्रार्थना उच्चारण कर लेने अथवा भजन गा लेने-मात्र से आत्मा की समस्या का समाधान नहीं होगा। यदि सब दुःखों से छुटकारा पाना है और आत्मा को परमात्मा के तुल्य बनाना है, तो आत्मा के मूल्य एवं सत्य स्वरूप को समझना होगा। आत्मा का स्वरूप परमात्मा के दर्पणवत् स्वच्छ स्वरूप से भिन्न क्यों है, उस निर्मलता के बाधक तत्व कौन हैं तथा वह कौन-सा विज्ञान है, जिसकी सहायता से इन बाधक तत्वों को बीच में से समाप्त करके आत्मा को परमात्मा के तुल्य बना सकते हैं-इस सारी प्रक्रिया का अध्ययन करना होगा तथा जानना होगा कि इस प्रक्रिया को सफल बनाने के लिए किस प्रकार के पुरुषार्थ को पुष्ट करें और किस प्रकार से उसे सफल बनायें ?

n'kī dh efyurk vlt' 'lī)

कर्मों के बन्धन एवं फलदान के प्रसंग से जब आत्मा एवं परमात्मा के बीच जिस स्वरूप-भेद पर चिन्तन किया जाता है, तो उसमें प्रारंभिक प्रश्न दर्शन अर्थात् निष्ठा, आस्था या श्रद्धा का उठता है। आत्मा की आस्था यदि पवित्र होती है, तो उसके द्वारा ज्ञान एवं चारित्र की आराधना की दिशा भी पवित्र बनती है। इस आधार पर समता के मूल लक्ष्य की ओर उसकी गति भी सुदृढ़ एवं उग्र होती है। किन्तु यदि मूल में दर्शन ही विशुद्ध नहीं है, आस्था में ही मलिनता भरी हुई है, श्रद्धा ही सदोष है, तो वैसी आत्मा की गति अपवित्र लक्ष्य की ओर ही होगी। दर्शन का तात्पर्य सम्यक् श्रद्धान से है-सही

विश्वास से है। आस्था और श्रद्धा होना एक बात है, किन्तु सही बात यह है कि सत्य वस्तुस्थिति को समझकर सच्ची आस्था और श्रद्धा हो। गलत आश्रय विश्वास का पकड़ लिया, तो वह तो डुबोनेवाला सिद्ध होगा। सच्चा ज्ञान होगा, तो दर्शन भी सच्चा, पवित्र और चिरस्थायी होगा।

आत्मा की वास्तविक प्रगति के लिए देव, गुरु एवं धर्म पर ही विश्वास होना पर्याप्त नहीं है। विश्वास होना चाहिए सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर तथा इस 'सु' को 'सु' कहने के लिए परीक्षा-बुद्धि का जागना नितान्त अनिवार्य है। 'सु' प्रत्यय तुलनात्मक प्रत्यय है। 'कु' की तुलना में 'सु' का महत्व होता है। इस कारण 'कु' को भी समझना पड़ता है और 'सु' को भी तथा इसी तुलनात्मक अध्ययन से 'सु' का महत्व स्पष्ट होता है। इस 'सु' के महत्व ज्ञान के पश्चात् ही उसके प्रति जो विश्वास होता है, वह अडिग रहता है। दर्शन की मलिनता और शुद्धि का यही विज्ञान है। यदि 'कु' और 'सु' का विवेक किये बिना विश्वास बना लिया, तो वह मलिन दर्शन होगा और इसके विपरीत जितना यह विवेक प्रखर बनेगा, उतना ही दर्शन शुद्ध और विशुद्ध बनता जायेगा।

1 १० dk 1 R Lo: i

जब दर्शन शुद्धि की स्थिति बनती है, तब सुदेव का सही स्वरूप भी कोई भलीभाँति समझ पाता है। सुदेव किसको कहना ? देवों की दृष्टि से लोग कई नामों से कई प्रकार के देवों को जानते हैं। भोले-भाले लोग अपने अज्ञानपने में भूत-प्रेतों को देव समझते हैं, जो जहाँ सिन्दूर-माली-पन्ने लगे हुए देखते हैं, तो समझते हैं कि ये सभी देव हैं। वस्तुतः इस प्रकार से देवों का स्वरूप समझना भ्रान्तिमूलक होता है। वैसे देवयोनि अवश्य है, जिसमें चार जाति के देव माने गये हैं—भवनपति देव, वाणव्यन्तर देव, वैमानिक देव और ज्योतिष्क देव। ये देव अपने-अपने स्थानों पर अपने-अपने कार्यों में तल्लीन रहते हैं।

यहाँ जो दर्शन विशुद्ध के साथ श्रद्धा का प्रसंग है, तो उसका संबंध इन देवों से नहीं है। यह दर्शन विशुद्धि परमात्मा के शुद्ध स्वरूप के प्रसंग में होनी चाहिए। इसका क्रम इस प्रकार से चलना चाहिए, जिस प्रकार से पंचपरमेष्ठि के रूप में नमस्कार मंत्र का क्रम है। इस मंत्र में पहले अरिहंत और सिद्ध के दो पद तो देवों के हैं तथा अन्तिम तीन पद गुरु के हैं। नवकार मंत्र यानि नमस्कार मंत्र के उच्चारण व ध्यान की परिपाटी आप लोगों में चलती है, किन्तु शायद ही—इसके महत्व पर पूरा चिन्तन किया हो। नमस्कार मंत्र में किन—किन का किस—किस स्वरूप के साथ नमस्कार किया जाता है—उसका विज्ञान करना मुख्य महत्व का विषय है। यदि इस विषय को गहराई से हृदयंगम कर लिया जाता है, तो दर्शन शुद्धि का प्रसंग भी प्रबल बन सकता है।

अब नमस्कार मंत्र को देव के प्रसंग से सोचिए। जो आठ कर्मों से रहित हो गये हैं, सर्वशक्तिमान हैं तथा मोक्ष में विराजमान हैं, वे सिद्ध देव होते हैं और जिन्होंने चार घनघाती कर्मों का क्षय कर लिया है, जो अनन्त ज्ञान के स्वामी बनकर इस भूमंडल पर चार तीर्थों की स्थापना करते हैं, वे अरिहन्त देव कहलाते हैं। अरिहन्त देव तीर्थंकर के रूप में होते हैं, जो रागद्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर आदि समस्त विकारों से रहित हो जाते हैं।

vijgr no dsifr J)k

देवों के इस स्वरूप को यदि समझ लें, तो क्या मान लिया जाये कि वैसी अवस्था में दर्शन विशुद्धि हो जाती है ? स्थूल दृष्टि से तो ऐसा मानना सही हो सकता है, किन्तु इतना समझ लेने—मात्र से दर्शन विशुद्धि नहीं होती है। ज्ञानियों की दृष्टि में जो दर्शन विशुद्धि का छोर है, उसको समझने के लिए अधिक गहराई में उतरना होगा। चार घनघाती कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट कर लेने के कारण ही अरिहन्त नाम है और पहला पद उनका इसी दृष्टि से है

कि वे आत्म-विकास के मूल प्रतीक हैं। उनको सबसे पहले नमस्कार करने का अर्थ है कि उनकी वाणी को याद करें, उसके अनुसार अपने आचरण को ढालें तथा इस प्रकार उन्हें सुदेव मानकर उनके प्रति दृढ़ श्रद्धा बनायें। ऐसी स्थिति में दर्शन विशुद्धि हो गयी है—ऐसा सूक्ष्म दृष्टि से कहा जा सकेगा।

अरिहन्त के रूप में वीतराग देव ने जो उपदेश दिया, वही वाणी शास्त्रों के रूप में आकलित हुई है। अब प्रश्न करें कि अरिहंतों ने यह जो हितकारी वाणी प्रसारित की, वह अपनी इच्छा से की या अनिच्छा से ? इसका उत्तर है कि प्रभु ने इच्छापूर्वक ही उस हितकारी वाणी का प्रयोग किया है, क्योंकि आत्मिक प्रेरणा से ही श्रेष्ठ वाणी प्रस्फुटित होती है तथा वैसी वाणी ही श्रवणकर्ता को श्रद्धावनत बना देती है। इस प्रकार का श्रद्धान है, तो वह दर्शन विशुद्धि के क्षेत्र में है। परन्तु यह देखना है कि केवल ज्ञान होने के बाद, कहा जाता है कि आत्मा कुछ भी नहीं करती है और तब केवल मुँह से ध्वनि ही निकलती है। क्या इस ध्वनि में आत्मा का प्रयत्न नहीं होता है ? तो क्या मुँह से ध्वनि जड़वत् निकलती है ? इसके लिए जड़ और चेतन के विज्ञान को समझना होगा। जड़ और चेतन का अन्तर आप समझते हैं, फिर क्या यह कहा जा सकता है कि तीर्थकर के मुँह से जो ध्वनि निकलती है, वह जड़ से निकलती है ? जड़ की तो कोई संज्ञा नहीं होती। तो क्या तीर्थकर को संज्ञा नहीं होती कि उनके मुँह से जो ध्वनि निकलती है, वह कैसी निकलती है तथा वह हितकारी है या नहीं ? इस कारण यह शंका निरर्थक है। उनकी ज्ञान भरी वाणी के पीछे उनकी आत्मा का यही प्रयत्न होता है और उसी आत्मिक अनुभूति के कारण ही उस वाणी के प्रति सहज व सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती है।

vāṇī & 'kā dh iz'kur

जो लोग ऐसा कहते हैं कि अरिहंत, वीतराग या तीर्थकर कैवल्यज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् स्वतः कुछ नहीं करते—यह भ्रमपूर्ण

धारणा है। कदाचित् यह कहा जाये कि उनके मुँह से शब्द अपने आप ध्वनित होते हैं, तो अपने आप ध्वनित होनेवाले शब्द बिना नियंत्रण के कहाँ तक निकलते जायेंगे ? समझें कि एक कार चल रही है और उस पर यदि ड्राइवर ब्रेक अपने नियंत्रण में रखता है, तब तो वह कार व्यवस्थित रूप से चलती है, किन्तु यदि बिना ब्रेक के कार भागती रहे, तो वह कहाँ तक भागेगी ? आगे जाकर वह कहीं न कहीं दुर्घटना की शिकार हो जायेगी, रुक जायेगी या टकरा जायेगी। हाँ, अगर ड्राइवर अन्दर बैठा हो, तो वह कार को सही रास्ते पर ले जाता रहेगा। इस तरह तीर्थकर की आत्मा ही मूलतः संचालक होती है। उनके शरीर, मुँह या शब्दों का संचालन स्वतः नहीं होता है— सबका संचालन आत्म-शक्ति के द्वारा ही होता है।

आत्म-शक्ति की प्रधानता को स्वीकार नहीं करेंगे, तो भारी विषमताभरी स्थिति पैदा हो जायेगी। तीर्थकरों के जिस शरीर में उनकी आत्मा घनघाती कर्मों को नष्ट करके सर्वशक्ति सम्पन्न बन जाती है, उन तीर्थकरों की ध्वनि को जड़वत् मान लें, तो क्या वह उनकी सर्वशक्ति सम्पन्न आत्मा प्रभावहीन होकर जड़ बन गयी कि उसका उस ध्वनि पर कोई नियंत्रण ही नहीं रहा ? ऐसी बात कहना भ्रम को बढ़ाना है। तीर्थकरों की ध्वनि निकालने से लेकर हिलने-चलने, उठने, बैठने एवं व्याख्यान आदि देने की समस्त क्रियाएँ आत्मशक्तिपूर्वक ही होती हैं। आत्मा उसका प्रयोग करती है, तभी प्रवृत्ति होती है। समस्त प्रवृत्तियों का संचालन तीर्थकरों की आत्मशक्ति द्वारा ही होता है। अगर ईश्वरीय शक्ति का प्रकाश उनमें होता है, तो उस शरीर में रहते हुए शरीर का संचालन चैतन्य ही करता है। इसके विपरीत कोई यह कहे कि आत्मा कुछ नहीं और वह निष्क्रिय हो जाती है, तो उसने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझा ही नहीं है और ऐसा कहने के साथ दर्शन विशुद्धि की अवस्था नहीं होती है।

आत्मा कैवल्यज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी वास्तविक दृष्टि से संचालक के रूप में ही रहती है और उसका प्रमाण भगवती सूत्र में दिया गया है।

eu gh eu 'lak dk l ek/ku

भगवती सूत्र में वर्णन आया है कि अनुत्तर विमान—वासी देव सर्वोच्च श्रेणी की देवयोनि के होते हैं, जबकि अन्य सभी प्रकार के देवता एवं इन्द्र भी तीर्थकर के दर्शनों के लिए पहुँचते हैं, किन्तु नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान के देवता वहाँ नहीं पहुँचते हैं। अपने स्थान पर रहते हुए भी जब उनके मन में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न होती है, तो वे उसका मन ही मन तीर्थकर से समाधान करते हैं। यह कैसे होता है ? मन में शंका आने के बाद समाधान हेतु वे अपने स्थान से ही उस सम्बन्ध में तीर्थकर के समक्ष अपना प्रश्न उपस्थित करते हैं। वे मन से प्रश्न करते हैं और उनका प्रश्न वीतराग देव अपने मन से ही समझते हैं तथा इसी प्रक्रिया से उनका उत्तर उन देवों तक वापिस पहुँचता है।

मन ही मन शंका के समाधान की यह प्रक्रिया क्या सिद्ध करती है ? यही न, कि आत्मा की संचालन शक्ति के बिना यह प्रक्रिया नहीं चल सकती है। तीर्थकर की आत्मशक्ति उस प्रश्न को ग्रहण करती है, फिर उसमें उसके उत्तर की रचना होती है। तब मनोवर्गणा के माध्यम से अनुत्तर विमानवासी देव उसे देख लेते हैं तथा अपना उत्तर अपने स्थान पर रहते हुए ही पा लेते हैं। वह देवता मन की पर्यायों को देखता है, जो तीर्थकर की आत्मशक्ति से संचालित होती है। यदि यह मान लें कि उस क्रिया में तीर्थकर की इच्छा नहीं होती, तो उत्तर के योग्य मन भी नहीं बनेगा तथा उत्तर भी प्रकट नहीं होगा।

आत्मशक्ति की प्रधानता के सम्बन्ध में यह उल्लेख भी शास्त्रों में आता है कि एक आहारक लब्धिवाले मुनि भी जहाँ अपनी शंका का समाधान कराने के लिए तीर्थकर के समीप स्वयं नहीं जायें, तो अपने भीतर से एक हाथ के एक पुतले को निकालकर तीर्थकर के पास भेजते हैं तथा वह पुतला तीर्थकर से प्रश्न करता है एवं उसका उत्तर

लेकर उसे उन मुनि तक पहुँचाता है। उस पुतले को जहाँ तीर्थकर का विराजना संभावित होता है, वहाँ भेजा जाता है। उस पर भी यदि वे कहीं अन्यत्र विहार कर गये हों, तो उस एक हाथ के पुतले में से पौन हाथ का दूसरा पुतला निकलता है तथा वह तीर्थकर के समक्ष उपस्थित होता है। यह लब्धि का प्रयोग होता था। जैसा कि रेडियो व टेलीविजन की बातें आज के वैज्ञानिक युग में सुनते हैं और आप लोगों में से किन्हीं ने देखा होगा कि दूर देश में कोई बोलता है, तो उसकी आकृति टेलीविजन में इस देश में देखी जा सकती है, तो यह क्या है? लब्धि का प्रयोग एक प्रकार से आध्यात्मिक विज्ञान था कि ज्योंही पुतला तीर्थकर के सामने खड़ा होता कि वे समझ जाते कि यह पुतला किन्हीं लब्धिधारी मुनि की शंका या उनका प्रश्न समाधान या उत्तर लेने हेतु आया है, तब उस पुतले को समाधान या उत्तर दे देते। उसके बाद वह पुतला पुनः लौटता तथा मुनि के शरीर में प्रवेश कर जाता, तब वह समाधान या उत्तर मुनि को ज्ञात हो जाता।

कहने का अभिप्राय यह है कि यह सब आत्मा की इच्छा शक्ति से ही होता है। इसी इच्छा शक्ति को आत्मशक्ति के रूप में मानिए। अतः यह सुनिश्चित है कि तीर्थकर अपने शरीर में रहते हुए सारी क्रियाएँ इरादे से करते हैं—वे अपने आप नहीं हो जाती हैं। इसी मान्यता में उनकी आत्मा का गौरव समाया हुआ है।

n'kai fo'kai dh voLFkk

आत्मशक्ति की प्रधानता के विरुद्ध जहाँ कुछ भी कहा जाता है अथवा माना जाता है, तो वह दर्शन विशुद्धि की अवस्था के विपरीत है। जहाँ तक दर्शन शुद्ध नहीं बनता, वह अशुद्ध बना रहता है, वहाँ तक त्रिकाल में भी आत्मा मोक्ष के समीप नहीं पहुँच सकती है। किन्तु दर्शन—विशुद्धि की अवस्था में आत्मा आनेवाले संकटों का विश्वासपूर्वक सामना करती है और उन पर विजय प्राप्त करती है, लेकिन अपने दर्शन को कहीं भी किसी भी प्रकार मलिन नहीं बनने देती है।

n'kz&'lq) / s vll&'lq)

यदि विश्वास शुद्ध और सुदृढ़ बनता है, तो वह आत्मा के साथ संलग्न होता है, तब वह आत्म-विश्वास के रूप में ढलता है। यह आत्मविश्वास कर्म शत्रुओं से लड़ने की प्रेरणा देता है। उन आवरणों को हटाता है तथा आत्मा के शुद्धिकरण की दिशा में कर्मरत बनता है। जब मूल में दर्शन-शुद्धि बन जाती है, तो उसकी शाखा-प्रशाखाओं के रूप में ज्ञान और आचरण की जिस प्रकार की श्रेष्ठ दिशा में गति होती है, वही आत्म-शुद्धि की दिशा होती है। दर्शन-शुद्धि की स्थिति पर जो दृढ़तापूर्वक कायम रहता है, वह उस सम्यक्-दर्शन के धरातल पर सम्यक्-ज्ञान व सम्यक्-चारित्र की भलीभाँति आराधना कर सकता है एवं जहाँ इस रत्न-त्रय की सफल आराधना बन जाती है, वहाँ मोक्ष का द्वार उसके लिए निश्चित रूप से खुल जाता है।

प्रार्थना के माध्यम से वीतराग प्रभु को जो सब नमस्कार करते हैं, उसके साथ यह विचारणीय विषय है कि वैसा नमस्कार दर्शन-शुद्धि के धरातल पर किया जाता है अथवा नहीं ? अगर दर्शन अशुद्ध है, तो ज्ञान और आचरण शुद्ध नहीं होगा और आत्मा शुद्ध नहीं होगी तथा उस अशुद्धता के साथ प्रार्थना भी शुद्ध नहीं होगी।

n'kz&'lq) fodkl dk ey g'

अतः यह सत्य है कि दर्शन-शुद्धि समूचे आत्म-विकास का मूल है, क्योंकि विश्वास ही मन, वचन और कर्म को संचालित करता है और जहाँ विश्वास शुद्ध है-मूल पुष्ट है, तो आगे का सारा विकास शुद्ध और पुष्ट बनता जायेगा। यदि इस मानव-जीवन में मनुष्य अपनी आस्था और श्रद्धा को सुचारु एवं सुदृढ़ नहीं बना सका, तो समझिए कि उसने इस जीवन का कोई सदुपयोग नहीं किया। मानव-जीवन की सार्थकता इसी में है कि अपने विवेक एवं परीक्षा बुद्धि से अपने दर्शन को शुद्ध बनाया जाये, ताकि इसके बल पर संपूर्ण आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त बनाया जा सकें। ❖ ❖ ❖

विनय और विनय-सम्पन्नता

"ine iHqft u/ rē eq vkr# js-----"

पद्म प्रभु की प्रार्थना के माध्यम से जीवन की विराटता का चिन्तन किया जा रहा है। आत्मा की जो विराट् शक्तियाँ हैं, वे कर्म रूपी आवरणों से आच्छादित हैं। इस आच्छादन को तब तक नहीं हटा सकते हैं, जब तक कर्म के स्वरूप को न समझ लिया जाये, क्योंकि स्वरूप-ज्ञान के बिना उसको हटाने का सही तरीके से पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता है। आत्माशक्तियाँ कर्मों के साथ इस तरह उलझी हुई हैं कि उनको सुलझाने के विज्ञान को समझना तथा उसके अनुसार पुरुषार्थ करना ज्ञान और विवेक के साथ होना आवश्यक है। कुछ कर्म तो इन शक्तियों को समूल रूप से दबाने की कोशिश कर रहे हैं, तो कुछ कर्म उन शक्तियों के विकास में सहायक भी बनते हैं। जो मददगार बननेवाले कर्म हैं, उन कर्मों के बंधन के कारणों को इस कारण ध्यान में लेना जरूरी है। नाम-कर्म ऐसा मददगार कर्म है, जिसके अशुभ कर्म आत्मिक शक्तियों को मलिन बनाते हैं, तो शुभ कर्मों के प्रवाह से वे शक्तियाँ प्रक्षालित होकर निर्मल बनती जाती हैं।

जहाँ नाम-कर्म का प्रसंग है, वहाँ चाहे वह शुभ नाम-कर्म हो अथवा अशुभ नाम-कर्म, उनके भेद से इस कर्म के बन्ध के मुख्यतः दो कारण बताये गये हैं। मन, वचन एवं काया के योगों की विकृति तथा विषम विधि से अशुभ नाम-कर्म का बन्ध होता है, तो शुभ नाम कर्म के बन्ध के कारण इसके विपरीत होंगे—योगों की सरलता तथा समता। जब योगों में सरलता और कार्यविधि में समता का प्रवेश हो जाता है, तो उससे उत्कृष्ट नाम-कर्म की प्रकृति का सम्बन्ध जुड़ जाता है। उत्कृष्ट नाम-कर्म की शुभ प्रकृति तीर्थकर नाम-कर्म की है, जिसके उपार्जन के शास्त्रकारों ने जो कारण दिये हैं, उसमें दर्शन-विशुद्धि को आधारगत स्थान दिया गया है। दर्शन-विशुद्धि के अभाव में तीर्थकर नाम कर्म प्रकृति का बन्ध नहीं हो सकता है। सम्यक्-दृष्टि का निर्माण दर्शन-विशुद्धि के धरातल पर होता है, फिर भी दर्शन की विभिन्न श्रेणियों में स्वरूप-भेद आ जाता है। एक ओर एक साधारण विश्वास रखनेवाला व्यक्ति होता है, तो दूसरी ओर पराकाष्ठापूर्ण विश्वास के साथ शुद्ध साधना को लेकर चलनेवाला पुरुष होता है, जिसकी उत्कृष्ट साधना की अवस्था को शास्त्रों में 'रसायन' के पारम्परिक शब्द से उल्लिखित किया गया है।

'रसायन' आने का यह तात्पर्य बताया गया है कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझने का ऐसा और इतना आनन्द आये कि विभोर अवस्था पैदा हो जाये। इस आनन्द-विभोर अवस्था में मन, वचन, काया के योग सरलता में प्रवर्तित हो जाने के कारण कई प्रकार के फलों की उपलब्धि होती है। मन वही है, जिसमें साधना के धरातल पर पवित्रता का संचार हो। वचन वही है, जिससे उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति का सम्बोधन हो तथा तन वही है, जो मन के धरातल पर संचरित साधना की भावना को कार्यरूप में परिणत कर दे। यह परिणति दर्शन विशुद्धि की भूमिका पर होनी चाहिए किन्तु ऐसी भूमिका पर यह परिणति तभी सफल बन सकती है, जब आत्मा में

विनय-सम्पन्नता का गहराई से समावेश हो। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि दर्शन-विशुद्धि के लिए विनय-सम्पन्नता आवश्यक है और दर्शन-विशुद्धि के साथ विनय संपन्नता आनी ही चाहिए।

fou; &l Ei lürk fdl s dga |

स्थूल दृष्टि से विनय उसको कहते हैं कि सामने आनेवाले किसी गुरुजन को नमस्कार कर लिया। हाथ जोड़ लेता है, तो वह कल्पना कर लेता है कि उसने विनय कर लिया। कभी-कभी वह तन को भी झुका लेता है, पाँचों अंगों को भी नमा लेता है या साष्टांग नमस्कार भी कर लेता है, तब तो समझने लगता है कि उसका विनय उच्च कोटि का बन रहा है। किन्तु शास्त्रकारों का कथन है कि इतना कर लेने-मात्र से विनय नहीं हो जाता है। यहाँ मन, वचन एवं काया के व्यापारों का सदुपयोग अवश्य है और दर्शन विशुद्धि का धरातल भी है। इससे इस प्रकार के मन, वचन, काया के योगों के कारण आत्मा की निर्जरा का प्रसंग है, तो कर्म की भूमिका के पुष्ट होने के साथ पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म के बंध का योग भी जुड़ता है, फिर भी इस प्रकार के विनय से उत्कृष्ट तीर्थकर प्रकृति का बंध नहीं हो सकता है।

उत्कृष्ट तीर्थकर नाम-कर्म की प्रकृति का बंध तो उत्कृष्ट विनय सम्पन्नता से ही संभव बनता है। यह विनय सम्पन्नता विनय की वास्तविक एवं गूढ़ अवस्था होती है। शब्द की दृष्टि से विनय शब्द का चिन्तन किया जाये, तो इस शब्द में तीन अक्षर हैं- 'वि' उपसर्ग है और 'नय' यह 'नी' धातु से बना शब्द है। 'नय' का अर्थ होता है 'नयति'-इसके साथ ही 'न' का अर्थ गति है, 'न' का अर्थ ज्ञान है और 'न' का अर्थ प्राप्त करना भी है। तीन अर्थ इस 'न' शब्द के अन्तरपेटे में आरोपित है और इन तीनों अर्थों के साथ ही 'वि' और लगा हुआ है, जिससे इन अर्थों में और विशिष्टता आ गयी है। इसका

अर्थ हो जाता है कि 'नयति विशिष्ट रूपेण'। विशिष्ट रूप से जिसको लिया जाये, वह 'विनय' है। विशिष्ट रूप की विधि यह है कि जहाँ जिसका विनय किया जाता है, तो अपने जीवन को भी उन योग्य पुरुषों के अनुरूप बनाया जाये। यह अनुरूपता समीपता की स्थिति में पहुँचे और तब जो पाँचों अंगों को नवाकर नमस्कार किया जाता है, वह वास्तव में विनय-सम्पन्नता की अवस्था होती है।

fou; dh iɛqk fo'k'Vrk

नमस्कार के पश्चात् ही विनय की इतिश्री नहीं समझ ली जाती है। विनय के वास्तविक अर्थ का सम्पादन करने के लिए जिसका विनय किया जा रहा है, उसके आकार एवं आकृति की चेष्टाओं को भी देखना होता है। एक व्यक्ति अपने शरीर से तो नमस्कार कर रहा है, लेकिन वह जिसको नमस्कार कर रहा है, उसके शरीर की अवस्था कैसी है—यह भी देखना होता है। जिसके प्रति विनय करना है—वह रोगयुक्त होकर जर्जरित है अथवा तन्दुरुस्त है। यदि तन्दुरुस्त है, तो कोई बात नहीं, किन्तु अगर रोगयुक्त है, तो उसकी चिकित्सा कराना व सेवा—शुश्रूषा करना विनय की ही विशिष्टता गिनी जायेगी। तीर्थकरों और महात्माओं की सुखशाता पूछने का भी जहाँ प्रसंग आता है कि भगवन! आपके ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप शरीर की सुखशाता तो है—तब यह प्रसंग मन, वचन और तन को झुकाने के बाद ही आता है। वहाँ मन, वचन और तन झुक गया, किन्तु सुखशाता की पृच्छा नहीं की, तो वहाँ विनय के अंग की पूर्ति नहीं हुई है—ऐसा माना जाता है। पृच्छा करने के बाद भी जिसके प्रति विनय किया जा रहा है— यदि वे बोलने की शक्ति में नहीं है, तो उनके संकेत को समझना चाहिए और संकेत से यदि यह ज्ञात हो कि उनके सुखशाता नहीं है, तो उनकी सेवा में निवेदन करना चाहिए कि वह उनकी क्या सेवा कर सकता है ? आवश्यकता एवं समय के

अनुरूप मन, वचन एवं काया के योगों का योगदान देना विनय की प्रमुख विशिष्टता मानी गयी है।

Klu i Mr dk vk/Mj&fou;

योगों के इस अनुकूल योगदान के बाद सरलता और समता की स्थिति में कुछ ग्रहण करने की भावना बनती है, तो वह ग्रहण करने योग्य वस्तु ज्ञान है, इसलिए विनय का दूसरा अर्थ ज्ञान-प्राप्ति माना जायेगा। विनय की अनुभूति का ज्ञान, शास्त्रीय धारणाएँ, वीतराग वाणी एवं उससे संबंधित ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा—इन सब का आरोपण विनय के क्षेत्र में ही बताया गया है। इसी दृष्टि से ज्ञान प्राप्ति के आधार एवं कारणभूत रूप में विनय को माना गया है।

जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो उसके अनुरूप जीवन के व्यवहार को भी मोड़ मिलता है। विनय-सम्पन्नता के योग से वह मोड़ अस्थायी नहीं रहकर स्थायी रूप ग्रहण कर लेता है। जो 'न' का अर्थ गति, ज्ञान और प्रापण (प्राप्ति) रूप किया जाता है, वह तीनों प्रकार का अर्थ एवं उनका अनुसंधान विनय-पद्धति के साथ सम्बद्ध होता है। उससे विनय-सम्पन्नता पुष्ट स्वरूप धारण करती है। विनय की मौलिकता इस ज्ञान एवं व्यवहारमय वातावरण में विकास की दिशा की ओर अग्रसर बनती है, जिससे दर्शन विशुद्धि की भूमिका भी दिन-प्रतिदिन पुष्ट होती चली जाती है।

ऐसी पुष्ट विनय-सम्पन्नता की स्थिति का प्रसंग आजकल बहुत कम देखने को मिलता है। परम्परा के बन्धन रूप नमस्कार अवश्य किया जाता है, किन्तु विनय के दूसरे अर्थों को भुलाया आ रहा है। नमस्कार तो विनय का एक प्रारंभिक अर्थ है। प्रत्येक कार्य का एक उद्देश्य होता है। यह नमस्कार क्यों किया जा रहा है—यदि इसका उद्देश्य भी ज्ञात नहीं है, तो वह नमस्कार विनय के क्षेत्र में फलदायक कैसे बन सकता है ? जिसके चरणों में झुका जा रहा

है—जिसको नमस्कार किया जा रहा है, उसके समग्र गुणों को वरण करने की भावना एक विनयशील व्यक्ति में होनी चाहिए। इस भावना के अस्तित्व में होने पर ही विनय को ज्ञान—प्राप्ति का सशक्त आधार बनाया जा सकता है।

Klu/ n 'lā/ plj= dk vkykd

अरिहन्त एवं सिद्ध स्वरूप सुदेव के चरणों में झुकने—उन्हें नमस्कार करने का तात्पर्य ही यह माना गया है कि नमस्कार करनेवाले के जीवन में दर्शन—विशुद्धि की उत्कृष्टता, ज्ञान की पवित्रता एवं चारित्र का आलोक प्रसारित हो। प्रार्थना में प्रभु से यही तो कहा जाता है कि हे प्रभु! ये तीनों शक्तियाँ आपके स्वरूप में अपनी संपूर्णता के साथ दैदीप्यमान हो रही हैं, किन्तु मेरी ये शक्तियाँ दबी हुई ओर प्रकाशहीन हैं। ये शक्तियाँ जागृत होकर मेरी आत्मा को भी प्रकाशवान बनायें—इसी उद्देश्य से मैं आपके चरणों में नत—मस्तक हो रहा हूँ। विनय की यह नत—मस्तक वृत्ति इस दृष्टि से सोद्देश्य होती है। इस उद्देश्य को साथ रखने के कारण ही अभिमान के विकार का भी परिमार्जन होता है और उसके बाद विनय की सार्थकता मन और मस्तिष्क में व्याप्त हो जाती है। तब विनय के साथ उसके अर्थ का अनुसंधान करते रहने से पाँचों अंगों को नमाकर पूरी भावना के साथ सुदेव को नमस्कार करने की आदत बनती है और यह सिलसिला जब निरन्तर चालू रहता है तो विनय—सम्पन्नता का विकास होता रहता है।

आत्मा की विनयशील ग्रहण—वृत्ति में ही मोक्ष मार्ग के अनुसरण की गूढ़ वृत्ति जन्म लेती है और वह रत्न—त्रय के मार्ग को खोज निकालती है। तब जीवन में सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का आलोक फैलने लगता है। विनय को धर्म का मूल इस दृष्टि से कहा गया है कि इसके कारण ही धर्म के इन तीनों मूलों को आश्रय मिलता

है, जो मोक्ष-मार्ग की ओर गति कराने के सशक्त साधन रूप माने गये हैं।

fou; vlf fou; & Ei Urk

विनय और विनय-सम्पन्नता में थोड़ा अन्तर माना गया है। विनय तो सहज है, किन्तु विनय-सम्पन्नता प्राप्ति में थोड़ी कठिन मानी गयी है। विनय तो सामान्य रूप से हर कोई व्यक्ति कर लेता है, लेकिन विनय-सम्पन्नता हर किसी को सरलता से प्राप्त नहीं हो जाती है। शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि विनयी शिष्य वही है, जो गुरुदेव के इंगित, आकार के ज्ञान से सम्पन्न हो, एवं उनके अभिप्राय के अनुकूल चलने की भावना रखता हो। वह मानता है कि गुरु जो भी संकेत देते हैं, वह मेरे लिए हितावह है और मेरी आत्मजागृति के लिए उद्बोधन रूप है। उसकी निष्ठा रहती है कि वह अपने गुरु के प्रत्येक संकेत को उसके सूक्ष्म रूप तक ग्रहण करे तथा संकेत के प्रतिकूल एक भी चरण रखने की चेष्टा न करे। इस प्रकार की भावना के साथ जो शिष्य गुरु की मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक वैयावृत्य की रुचि रखता है, वही इंगित, आकार की चेष्टाओं से सम्पन्न विनीत शिष्य कहलाता है। शास्त्रों में विनीत शिष्य के जितने विशेषण अथवा सम्बोधन आये हैं, उन सभी विशेषणों को विनय के गुणों के रूप में ले सकते हैं तथा उन्हें विनय के अर्थ में सर्वत्र लागू कर सकते हैं।

गृहस्थावस्था में भी विनय का प्रवेश नितान्त आवश्यक माना गया है। एक पुत्र यदि विनय के गूढ़ अर्थ के साथ अपने पिता को नमस्कार करता है, तो उसकी भावना यही बनेगी कि जो विशिष्ट गुण उसके पिता के जीवन में रहे हुए हैं, उन्हें वह भी ग्रहण करें। गुण-ग्रहण की वृत्ति के साथ वह पुत्र अपने पिता के इंगित, आकार आदि की चेष्टाओं को देखकर उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि में दर्शन-विशुद्धि बनाकर आगे बढ़ने का प्रयास करता है। इसी प्रकार

की भावना यदि एक गृहस्थ अपने माता-पिता, वृद्धजन एवं शिक्षणदाताओं को नमन करते समय रखता है, तो उसकी निष्ठा गुण-ग्रहण की अवश्य बनती है। धार्मिक क्षेत्र में यही निष्ठा उसे सम्यक् दृष्टि की ओर मोड़ती है, तो अपने धर्मगुरु को नमस्कार करते एवं उनके गुणों को ग्रहण करने की भावना बनाते हुए उसे श्रावक धर्म की ओर मोड़ती है। अपने से अधिक गुणीजन को नमस्कार करने की परिपाटी का यही अभिप्राय है कि उनके विशिष्ट गुणों को ग्रहण करते हुए अपने जीवन का निर्माण करने की वृत्ति बने।

विनय-सम्पन्नता इस प्रकार नमस्कार से केवल प्रारंभ होती है, जिसे विनय का रूप माना है, किन्तु गुण ग्रहण एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आराधन की दिशा में ज्यों-ज्यों विनय आगे बढ़ता है, वह विनय-सम्पन्नता के गुण को पुष्ट बनाता जाता है।

fou; dh l k/kuk

भगवती सूत्र में शंख-पोखली जी के जीवन का वर्णन आता है। एक बार शंख जी पौषध व्रत में बैठे हुए थे तथा पोखली जी बाहर से शंखजी से मिलने आये। पोखली जी के द्वार में प्रवेश में करते ही उनकी विनयशीलता का द्योतन हुआ। उन्होंने 'निस्सही, निस्सही' शब्द का उच्चारण किया, जिसे शंखजी की पत्नी ने सुना। वह बाहर आयी और उसने पोखली जी को नमन किया-यह उसका उनके श्रावकत्व को नमन था। इस प्रकार श्रावक और श्रावक के मध्य, श्रावक और साधु के मध्य तथा साधु और साधु के मध्य विनय-धर्म की साधना के विविध प्रकार बताये गये हैं। विनय की इन पद्धतियों को अपने जीवन में अंगीकार करके जो चलता है और विनय के तीन प्रकार के अर्थों का अनुसंधान करता है, तो उसके जीवन में उत्कृष्ट विनय-सम्पन्नता आती है, उससे उत्कृष्ट तत्वों का रसायन उत्पन्न होता है तथा वैसे रसायन में वह तीर्थकर नाम-कर्म की प्रकृति का बन्ध भी कर लेता है।

वैसे तो विनय की साधना के लिए विस्तृत रूप से विविध प्रवृत्तियों का वर्णन शास्त्रों में आता है, किन्तु यदि उनको संक्षेप में भी ध्यान में रखें, तो आज प्रत्येक क्षेत्र में उद्वेगिता से फँस रही अभिमान की वृत्ति का अवश्य ही परिमार्जन हो सकता है—धीरे—धीरे अभिमान को समाप्त भी किया जा सकता है। यह निश्चित मानिए कि अभिमान का हनन विनय से ही संभव होता है। जहाँ विनयशीलता और विनय—सम्पन्नता बढ़ रही है, वहाँ अभिमान के धृष्ट भाव नष्ट होते चले जाते हैं। किन्तु जहाँ तक अभिमान न्यूनाधिक—मात्रा में बना रहता है, तब तक यही कहा जायेगा कि वहाँ विनय तो आया है, किन्तु विनय सम्पन्नता नहीं आयी है।

इस तथ्य को आप स्थूल दृष्टि से समझिए। पहले के जमाने में पानी के नलों की व्यवस्था नहीं थी। लोग पानी कुँओं, बावड़ियों या जलाशयों से लाते थे। पानी के नल हो जाने के बाद वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं रही। जरा—सा टूटी को मोड़ दिया कि पानी आ गया। नल में पानी लबालब भरा रहता है। पानी सहित नल है, तो जिस समय भी चाहा, पानी प्राप्त कर सकते हैं। नल के अभाव में जलाशयों आदि से पानी लाने और नल के साथ पानी के बने रहने में आप कोई अन्तर महसूस करते हैं अथवा एक ही बात समझते हैं ? इसमें आप थोड़ा अन्तर पायेंगे। जहाँ सिर पर उठाकर पानी लाया जाता है, वहाँ पानी यथासमय और सीमित—मात्रा में ही आता है, अतः उसका उपयोग भी सीमित—मात्रा में करना पड़ता है। समझें कि पानी लाते समय अगर घड़ा फूट जाये, तो बिना पानी के भी रहना पड़ता है। लेकिन नल का पानी अपने पास जब आप निरन्तर चालू देखते हैं, तो वहाँ पानी की कमी नहीं होती है। यही विनय और विनय—सम्पन्नता की स्थिति का रूपक है।

t hu esufjlrj inlgh

जलाशयों से लाये हुए पानी के समान विनय है, तो नल के लगातार चालू पानी की तरह विनय-सम्पन्नता को समझिए। जिसने केवल नमस्कार करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली, वह क्षणिक रूप में विनय है, किन्तु जिसने विनय को अपने संपूर्ण जीवन में आत्मसात् कर लिया है, अहंकार को समूल नष्ट करके अपने जीवन में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य का आलोक प्रकाशित कर दिया है, वह उसकी विनय-सम्पन्नता है, जो नल-जल के समान उसके जीवन में निरन्तर प्रवाही बन जाती है।

इसी तथ्य का आप दूसरे रूपक प्रकाश से लीजिए। प्राचीन काल में तेल या घी का दीपक अथवा घासलेट की चिमनी जलायी जाती थी, जिससे रोशनी होती थी। ऐसी रोशनी के लिए थोड़ा पुरुषार्थ करना पड़ता था—उसे हवा के झोंके से भी बचाना पड़ता था। लेकिन अब पावर हाउस से बिजली आती है, तो कोई भी अपने घर में कनेक्शन लेकर बल्ब लगा देता है, फिर बटन दबाते ही रोशनी हो जाती है। हवा का झोंका छोड़-कितनी ही तेज आंधी आ जाये, तब भी बल्ब की रोशनी जलती ही रहती है। रोशनी नहीं चाहिए, तो बटन बन्द कर दिया, फिर भी लाइन में बिजली बराबर प्रवाहित होती रहती है। जैसी दीपक की स्थिति है, वह विनय है और जो बिजली के बल्ब की स्थिति है, वह विनय-सम्पन्नता है।

भावनावश अस्थायी रूप से जो मृदुता की वृत्ति जगी, समादर का अनुभाव पैदा हुआ और नमस्कार कर लिया, तो वह विनय हो गया। इसमें जब तक बड़े बूढ़े ने भी मनसुहाती बात कही, तब तक तो ठीक, लेकिन कुछ तेजी से हितकारी बात भी कह दी गयी, तो रोष आ जाता है। ऐसे विनय में समत्व और स्थायित्व की पर्याप्त-मात्रा नहीं होती है। किन्तु विनय-सम्पन्नता की स्थिति जीवन में निरन्तर

प्रवाही बनी रहती है। कैसी भी परिस्थितियाँ हों, कैसा भी वातावरण और व्यवहार हो, लेकिन विनय-सम्पन्नता स्थायी रूप से मृदुता, समता एवं समादरता का श्रेष्ठ अनुभाव लेकर कार्यरत रहती है। नल में जल और बल्ब में विद्युत के प्रवाह के तुल्य ही विनय-सम्पन्नता का प्रवाह जीवन की प्रत्येक गतिविधि में अबाध रूप से प्रवाहित होता रहता है।

वक्क वक्क वोग्युक दस चिप ए

विनय का एक रूप ऐसा भी दिखायी देता है कि इधर तो पुत्र पिता के चरणों में झुककर आशीर्वाद ले रहा है और दूसरी ओर वही उनकी आज्ञा की अवहेलना बिना हिचक के कर रहा है। यह किस प्रकार का विनय है ? मन को भली लगनेवाली बात करते रहे, तब तक तो पिताजी के आज्ञाकारी और यह कहा हो कि सिनेमा मत जाया करो, तो पुत्र तुरन्त पिता की आज्ञा की अवहेलना करने के लिए तैयार हो जाता है। आज्ञा और अवहेलना के बीच में जब विनय का रूपक चल रहा हो, तो पुत्र ने पिता को जो नमस्कार किया—क्या उसे विनयशीलता अथवा विनय-सम्पन्नता कह सकते हैं ? यह तो गृहस्थावस्था की स्थिति है।

किन्तु साधु-जीवन में भी ऐसे दृश्य देखने को मिल जाते हैं। गुरुजी के सामने शिष्य हाथ-पैर हिला-हिला ?कर वन्दना करेंगे, किन्तु गुरु ने अगर हितकारी बात भी उसकी इच्छा के विरुद्ध कह दी, तो शिष्य में तुरन्त ही स्वच्छन्दता आ जायेगी। जहाँ कोई आचरण की बात आयी—ज्ञान-चारित्र के आराधन की बात आयी कि शिष्य चट से मुँह मरोड़कर बैठ जाता है तो क्या इसे विनय-सम्पन्नता कहेंगे ? क्या उसका ऐसा व्यवहार उनकी वन्दना के अनुकूल कहलायेगा ? उसने जो झुक-झुककर वन्दना की—वह विनय की स्थिति अस्थायी ही रही। वह विनय उस मिट्टी के दीपक के समान

रहा, जो हवा का एक हल्का-सा झोंका लगते ही बुझ जाता है। जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसे ही ऐसा विनय भी छोटी-सी कड़वी बात पर ही समाप्त हो जाता है। परन्तु जिनके जीवन में वीतराग वाणी हृदयंगम हो चुकी हो, वे बिजली के बल्ब की तरह हर समय प्रकाशित रहते हैं और किसी भी परिस्थिति में अविनीत नहीं बनते हैं। वे गुरु की आज्ञा मन, वचन, काया के समस्त सरल योगों के साथ मान्य करते हैं तथा मन में किसी भी प्रकार से अवज्ञा या अवहेलना की भावना तक नहीं लाते हैं। ऐसी सरलता एवं समता जब जीवन में निरन्तर प्रवाही बन जाती है, तो इसका नाम विनय-सम्पन्नता कहलाता है। अवहेलना का भाव है, तब तक अहंकार है और जब अहंकार पूरे तौर पर गल जाता है, तब आज्ञानुवर्तिता आती है एवं वह स्थायी बन जाती है—यही विनय-सम्पन्नता है।

fou; /æZdk ew gS

शास्त्रों में कहा है - " विणओ धम्मस्स मूलं "। विनय धर्म का मूल है। अब सोचें कि हमारा धर्म क्या है ? बहिनें आयंबिल, उपवास से लेकर मासखमण तक की कठिन तपस्या करती हैं, किन्तु तब भी जब वे घर में प्रवेश करती हैं, तो अपने वृद्ध सासुजी के साथ कैसा बर्ताव करती हैं ? वहाँ विनय की स्थिति रहती है अथवा अविनय की ? यदि सासुजी के साथ विनयशीलता का व्यवहार है, तो समझिए कि जितनी भी तपस्या या धर्म क्रियाएँ उन्होंने की हैं, वे विनय रूपी सोने में सुहागे के समान है और यदि विनय नहीं है, तो वह तपस्या भी उतनी फलदायी नहीं होगी।

ऐसी अविनय की स्थिति भी हितावह नहीं हो सकती है—वह न तो परिवार के सदस्यों के लिए हितावह है, न समाज, राष्ट्र या विश्व के लिए हितावह होती है। इसलिए बहिनें यह सोचें कि धर्म के साथ ही विनय सम्पन्नता भी आनी चाहिए, क्योंकि धर्म का मूल विनय होता है। यदि विनय ही नहीं आया—मूल ही नहीं लगा, तो धर्म का

वृक्ष पल्लवित, पुष्पित एवं फलित कैसे बनेगा ? विनय के अभाव में धर्म-क्रियाओं की भी आलोचना होने लगती है। धर्म की दृष्टि से जीवन में सबसे पहले विनय-सम्पन्नता आनी चाहिए, जिससे दर्शन-विशुद्धि का भी प्रसंग उपस्थित होता है। बहिनों से मैं कहता हूँ कि आपके सासुजी कैसे भी स्वभाव के हों-अपने व्यवहार से गलत रास्ते पर भी जाते हों, किन्तु आपका फर्ज है कि आप अपने विनयशीलता के स्वभाव से उनको सही रास्ते पर लायें। विनयशीलता अगर बहिनों के जीवन में समा जाये, तो वे परिवार के अन्दर सुख-शांति ला सकती हैं तथा वैसी स्थिति में उनका धार्मिक क्रियाएँ करना भी सार्थक हो सकता है। धार्मिक क्रियाएँ करें और विनयशीलता नहीं आये, तो लोग कहने लगते हैं कि बहिनें बड़ी-बड़ी तपश्चर्या तो करती हैं और इधर घर में आग लगाती रहती हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए, क्योंकि धर्म को विनय के आधार पर धारण करने से ही दर्शन विशुद्धि एवं आत्मशुद्धि का अवसर आता है।

t bou esafo'kij dk ew;

जीवन में विशुद्धि एवं निर्मलता का महान मूल्य माना जाता है। यह विशुद्धि तभी आ सकती है, जब शुभ कार्यों की स्थिति को ध्यान में रखकर उनके बंध के कारणों को कार्यान्वित किया जाये। इससे जीवन में पवित्रता बढ़ेगी तथा दर्शन विशुद्धि एवं आत्मशुद्धि यदि उच्च कोटि की बनती जाये, तो तीर्थकर नाम-कर्म का उपार्जन भी किया जा सकता है। जीवन में विशुद्धि का महत्व इतना अधिक है कि जब कभी विचलित करनेवाले प्रसंग भी सामने आते हैं, तो इस निर्मलता की शक्ति से डगमगाने की तनिक भी स्थिति नहीं आती है।

fou; Is fou; & l Ei Uruk dh vki

विनय से विनय-सम्पन्नता की ओर बढ़ें यानि विनय को अस्थायित्व के घेरे में से निकालकर स्थायी रूप से उसे जीवन में आत्मसात् कर लें, तो अहंकार आदि की विकारी वृत्तियाँ नष्ट हो

जायेंगी तथा यह विनय–सम्पन्नता आपको दर्शन–विशुद्धि का सुफल प्रदान करती हुई मूल से धर्म के विकास में योगदान देगी। यह विनय–सम्पन्नता सभी कर्मों के क्षय का निमित्त बनकर धर्म के मूल के रूप में तीर्थकर नाम कर्म का बंध तक करा सकेगी।

इस विनय–सम्पन्नता में एक प्रकार से त्रिवेणी–संगम है, जो विनय सम्पन्न आत्मा को तीव्र गति से मोक्ष मार्ग पर अग्रसर बना देती है।

